शरद जोशी

शिवानी

पूतोंवाली

शरद जोशी

पूतोंवाली
(लघु उपन्यास तथा अन्य कहानियाँ)

प्रथम संस्करण १९८६

द्वितीय संस्करण : १९८८
प्रकाशक :

सरस्वती विहार

जी० टी० रोड, शाहदरा,

दिल्ली-११००३२

मुद्रक
नागर ऑफसेट प्रिंटिंग प्रेस
[illegible], मेन रोड मौजपुर
दिल्ली-५३.

मूल्य : पैंतीस रुपये

POOTONWALI
(Novelette & Stories)
SHIVANI

Second Edition :: 1988

Price : 35.00

क्रम

दो लघु उपन्यास

पूतोंवाली

एक बार फिर छोटे की चिट्ठी पढ़, उन्होंने अखबार के नीचे दबा दी। पार्वती ने देख ली तो आफत कर देगी। क्या लिखा है छोटे ने ? हमें कब आने को लिखा है ? कैसे कह पाएंगे उससे कि पार्वती, छुटके ने इस बार भी उन्हें बुलाने का क्षीण संकेत तक नहीं दिया है। तीन-चार बार तो वे उसे लिख चुके हैं कि तुम्हारी अम्मां की तबीयत ठीक नहीं है, कई बार काम करते-करते बेहोश होकर गिर पड़ी है। तुम तो जानते हो उसे आंखों से भी कम सूझने लगा है। एक आंख में ग्लूकोमा हो गया है, दूसरे का मोतियाबिन्द पक गया है। डाक्टर कहते हैं कि आपरेशन जल्दी नहीं किया गया तो दोनों आंखें जा सकती हैं। गांव का हाल तो तुम जानते हो, अस्पताल है पर डाक्टर नहीं। एक बार तुम किसी अच्छे डाक्टर को दिखा देते तो तसल्ली हो जाती।

किन्तु चतुर बेटा इस बार भी उनके प्रस्ताव को झाड़ गया था। छोटे-से पत्र में उसने अपना ही रोना रोया था—इस वर्ष अप्रैल तक मेरी बदली अवश्य हो जाएगी। पांच साल हो गए

हैं यहां, अब नया नियम बड़ी कड़ाई से लागू किया जा रहा है। जो जिस कैडर का है, उसे वहीं लौट जाना होगा। बड़ी मुश्किल में हूं, सुजाता का स्कूल फाइनल है, रानी को बड़ी मुश्किल से अभी एक अच्छे स्कूल में एडमिशन मिल पाया है। उस पर शीला को अपनी नौकरी छोड़नी पड़ेगी। इन्हें यहीं छोड़ गया, तो दो-दो इस्टेब्लिशमेंट कैसे कर पाऊंगा...

स्पष्ट था कि अपनी इन परेशानियों के बीच वह अंधी हो रही मां और बाबू जी के लिए कुछ भी नहीं कर पाएगा।

पार्वती ने चाय का प्याला मेज पर धरकर कहा था, "आज छुटके की चिट्ठी जरूर आएगी, हमारा मन कहता है।"

"भाड़ में जाए चिट्ठी।" शिवसागर ने झल्लाकर कहा तो वह सहमकर सिकुड़ गई, सहमने पर वह कितनी छोटी लगती थी, कितनी असहाय, जैसे किसी ने केंचुए को छेड़ दिया हो और वह तत्काल अपनी सतर देह को कुंडली में समेट-सिकुड़-कर बिन्दु-सा बन गया हो। दूसरे ही क्षण, पत्नी के पीले चेहरे को देख, शिवसागर का हृदय, स्वयं अपनी भर्त्सना करने लगा।

छिः-छिः, कहीं मरे को भी ऐसे मारा जाता है? कौन-सा सुख दिया है तुमने उसे जीवन-भर? इन पैंतालीस वर्षों में कभी अपने हाथों पाजामा में नाड़ा भी डाला है तुमने? कभी कमीज का एक टूटा बटन भी टाका है? जिस सर्वस्वत्यागिनी ने पूरा यौवन ही इनी-गिनी सादी साड़ियों और मारकीनी पेटीकोटों में काट दिया और निरंतर मुसकराती तुम्हारे और तुम्हारे पांच कपूतों के जीवन में आनन्दवृष्टि करती रही, उसका क्या प्रतिदान दिया तुम सबने? कभी कोई छल्ला भी गढ़वाकर दे पाये उसे? वह तो पूरे बीस तोला सोना दिया था उसके

कृपण पिता ने —उसी बैंक बैलेंस से न जाने कितनी बार शिव-सागर ने गृहस्थी की गाड़ी खींची थी। तीन बहुओं को उन्हीं गहनों में से कुछ का चढ़ावा चढ़ा था। शेष दो बेटों ने अपने मन से विवाह किया था। इसी से उन्हें कुछ नहीं दिया गया। कृपण पिता के इस औदार्य का एक कारण भी था, न देते तो उस साधारण चेहरे को देख कौन उसे ले जाता? न पढ़ी-लिखी, न कद-काठी की ही दुरुस्त, कभी-कभी तो लगता वह बजरबौनी ही है. उस पर बेहद डरपोक थी लड़की, मां की मृत्यु ने उसे और भी भीरु बना दिया था। पिता हेडमास्टर थे, उन्होंने उसे अपने ही स्कूल में पढ़ने भी भेजा था पर न जाने कैसा भूसा भरा था छोकरी के दिमाग में, पहली ही कक्षा में तीन साल फेल होती रही। इसी बीच, पिता ने दूसरा विवाह कर लिया था। विमाता की क्रूर आंखें देख, लड़की पहले ही दिन सहमकर और सिकुड़ गई। विमाता जो भी काम सौंपती, उसे ही बिगाड़कर चौपट कर देती। सब्जी में नमक-ही-नमक, चावल पसाने बैठती तो आधा चावल ही मांड के साथ बहा देती। कभी तेल उलट देती, कभी दूध। फिर विमाता बाढ़ में उफनती नदी-सी, कगार पर खड़े वृक्ष के-से पिता के विवेक को भी ढहा गई। दिन-रात की चुगली पर जाने वह नित्य ढोल-दमामे-सी पीटी जाने लगी। इधर प्रत्येक वर्ष विमाता, दम्भ से एक बेटा जन, पति को कृतज्ञता के ऐसे जानलेवा दलदल में धंसा गई कि वे आये दिन, हर मिथ्या अभि-योग पर निरीह पुत्री को निर्ममता से कूटने लगे। एक दिन पार्वती की दयालु बुआ ने यह रिश्ता पक्का कर दिया था।

"दान-दहेज तो काफी मांग रहे हैं, पर ऐसा दामाद तुम्हें मिल नहीं सकता।"

ठीक ही कहा था बुआ ने, ऊंचे अगले, विद्वान् ज।

को उन्होंने देखा तो मन-ही-मन सोचने लगे, मातृहीना गाय-सी पुत्री के साथ उन्होंने जो भी अन्याय किया था, उसे इसी कन्या-दान की पुण्यसलिला में धो-पोंछकर बहा देंगे। समधी की हर मांग वे प्राणपण से पूरी करेंगे। तब शिवसागर मिश्र, काशी विद्यापीठ से अपनी शिक्षा पूर्ण कर नयी-नयी नौकरी में लगे ही थे। आते ही मां ने बता दिया था कि उसके पिता, उसका रिश्ता फैजाबाद के हरेन्द्र शास्त्री की पुत्री से पक्का कर चुके हैं, सारी रात वह सो नहीं पाया था। कैसी होगी वह? शास्त्री जी को तो वह देख चुका था, उनके तीखे नैन-नक्श और दूध-सा उजला रंग पाया होगा लड़की ने तो निश्चय ही सुन्दर होगी और किरातार्जुनीय की पंक्तियों को साकार कर देगी। वह मन-ही-मन किरातार्जुनीय की पंक्तियों को दोहराता—'हे मानिनी, नये पल्लवों जैसे हाथों को कंपाती, व्यर्थ परिश्रम मत करो, तुम्हें कल्पलता समझकर, पास आई भ्रमरावली कहीं इस तरह डरकर थोड़े ही भाग जाएगी, ये भ्रमरयुक्त कमल पत्र हैं या चंचल नयन, ये झुकी बरौनियां हैं या निश्चल भ्रमर वृंद? खिले हुए हास से दर्शनरूपी केसर को प्रकट करता हुआ यह मुख है या विकासमान कमल?' अपनी उस मदकलोदक लोल विहंगमा भावी पत्नी की अनदेखी मोहक छवि का ताना-बाना बुनते ही, वह सिर पर मौर बांध दूल्हा बन गया था, वर रूप में ठीक जैसे शिव ने पार्वती से ध्रुव तारा देखने को कहा था और लज्जासिक्त स्वर में, अपना लज्जावनत चेहरा उठा, पार्वती ने बड़ी कठिनाई से कहा था—देख लिया—ऐसा कुछ उसकी पार्वती नहीं कह पाई, वह तो अरसिक गठरी बनी बैठी ही रही। पर जब घर पहुंचने के घंटों बाद नववधू का चेहरा देखने को मिला तो शिवसागर का रसिक चित्त, अपनी सब कलाबाजी भूल गया। कद में शिवसागर के घुटनों

तक और भावशून्य खच्चर की-सी आंखें, शरीर का एक भी अवयव ऐसा नही था जिसके सहारे वह अब किरातार्जुनीय के रसिक प्रसंगों को घर तक खींच सकता था। धीरे-धीरे शिवसागर को परिस्थितियों से समझौता करना ही पड़ा। दुर्वासा रूपी पिता से कोई कैफियत मांगने का प्रश्न ही नहीं उठता था, मां को जैसी बहू चाहिए थी, वैसी उसे मिल गई। साथ में बीस तोला सोना, दुधारू गाय, स्वस्थ भैंस और सिर झुकाकर उनके प्रत्येक आदर्श को झेलने वाली धरती-सी सहिष्णु उस पुत्र वधू को पाकर अम्मां परितृप्त हो गयीं। फिर सात ही वर्षों में पांच सुदर्शन पुत्रों को जन्म देकर उसने सास-ससुर के हृदय संपूर्ण रूप से विजित कर लिए। मायके जाने का वह कभी नाम भी नहीं लेती थी, कृशकाया होने पर भी कभी बीमार नही पड़ती थी; उस पर पति के कभी सीधे मुंह बात न करने पर भी, निरंतर उसके पीछे-पीछे छाया-सी डोलती रहती थी। छोटा तीन साल का था कि ससुर का देहान्त हो गया, छठे ही महीने सास भी चली गई। शिवसागर अध्यापक से प्रधानाध्यापक हो गए। ऊपर की मंजिल में तीन कमरे बनवा लिए। रेडियो भी आ गया, स्टील की दो-दो अलमारियां भी आ गयी। किन्तु सास-ससुर की मृत्यु के बाद भी पार्वती के कटोरी-से घूंघट की यवनिका नहीं उठी। पांचों बेटे पढने में एक से बढकर एक निकले। गांव की बड़ी-बूढ़ियां कहतीं— बडी भागवान है री तू। तू सचमुच पूतोंवाली है पार्वती। देखने में ऐसे मजीले कि हर इतवार-मंगल पांचों को एक साथ बिठा नजर उतारती थी पार्वती। धीरे-धीरे पांचों के भी पंख निकल आए। सब एक-एक कर पढने बाहर चले गये, रह गए दोनों प्राणी।

चालीस वर्षों के सुदीर्घ साहचर्य की धारा क्षीण से क्षीणतर होती, एक ही वेग में बहती जा रही थी। शिवसागर को वार्धक्य ने झटक दिया पर पार्वती का एक-एक बाल अब भी काला धरा था। सुबह चार बजे उठ, वह नहा-धोकर चाय बनाकर रख जाती पति के सिरहाने, फिर दूध का गिलास और कटोरी में पांच बादाम, अखबार, चश्मा, धूप में धरी कुर्सी पर धर फिर चौके में घुस जाती। गजब का रस था उसके हाथों में, खिचड़ी हो या मेवे की गुझिया, "अजी, हमारी बहू जैसा खाना कोई बना नहीं सकता पूरे गांव में।" एक दिन विवाह के कुछ ही महीनों बाद, शिवसागर के पिता ने कहा तो उनकी स्तुति को शिवसागर ने वहीं पर व्यर्थ कर दिया था, "ठीक ही कहा है आपने, हमारे एक मित्र का भी यही कहना था कि जो औरत जितनी बदसूरत हो, वह उतना ही खूबसूरत खाना पकाती है।"

बाप हो-होकर हंस उठे थे, सोचा, लड़का नयी-नयी बहू को हंसी-हंसी में छेड़ रहा है। पर पार्वती के घूंघट की यवनिका सहसा और नीचे खिसक आई थी। वह घूंघट की आड़ में रो रही है, यह शिवसागर ने देख लिया था, रोने से नासिका का रक्तिम अग्रभाग देख वह और चिढ़ गया था। पिता को वह इस बेमेल गठबंधन के लिए अन्त तक क्षमा नहीं कर पाया। आश्चर्य था कि विवाह के बाद वह आज तक पत्नी से एक शब्द भी नहीं बोला था, फिर भी उस विलक्षण नारी ने अपनी वेदना का पात्र किसी के सामने रिक्त नहीं किया। भले ही न बोले, उसे पांच दर्शनीय पुत्रों की जननी तो बना दिया था उसके उदार जीवन सहचर ने। कोई विश्वास कर सकता था कि पूरे दस वर्ष बाद, वह उससे पहली बार बोले थे। आज तक शरीर की क्षुधा से ही कातर हो वह उसके पास मूक याचक बनकर

आये थे, उस दिन उदर की क्षुधा से व्याकुल होकर लौटे तो देखा पार्वती तीव्र ज्वर में अचेत पड़ी है और नित्य नाश्ते के लिए भरा कटोरदान रिक्त है। शायद खाने की छुट्टी में आए पांचों विकट वीर सब चाट-चूट गए थे।

बाहर लू के गर्म थपेड़े कनपटी पर थप्पड़ मार रहे थे, नहीं तो दुकान से ही कुछ लेकर खा लेते। सहसा झुंझलाकर उन्हें और कुछ नहीं सूझा तो अकड़कर दरवाजे की चौखट पर खड़े होकर गरजे, "पार्वती, नाश्ता नहीं रखा आज? मैं सुबह भी भूखा ही चला गया था।" हड़बड़ाकर वह उठ बैठी, तीव्र ज्वर की अचेतावस्था में भी पति की वह कठोर गर्जना उसे कितनी मधुर लगी थी जैसे किसी अरण्य में कहीं घुंघरू बजे हों। "मुझसे कह रहे हैं जी?" उसने आश्चर्य से भयभीत मृगी-सी आंखें विस्फारित कर पूछा। वह पति, जिसने आज तक उसकी ओर कभी ठीक से आंख उठाकर भी नहीं देखा था, जिसका स्पर्श उसे अंधकार ही में पुलकित कर अंधकार ही में सदा विलीन हो जाता था, जिसने आज तक उसे कभी नाम लेकर भी नहीं पुकारा, उसी के मुंह से अपना नाम सुनकर वह मत्त-मयूरी-सी प्रफुल्लित हो उठी। "और किससे कह रहा हूं। भूख लगी है मुझे।" उसने झल्लाकर कहा।

आज तक तो उसका रूखे पति की एक ही भूख से परिचय था, आज पहली बार वह उससे, ठीक उसी तरह खाने को कुछ मांग रहा था जैसे कभी उसके क्षुधातुर बेटे मांगते थे, "अम्मां, बड़ी भूख लगी है, दे दे ना कुछ जल्दी।"

वह चादर फेंककर उठी और चौके में घुस गई—ज्वर में उसकी आंखें लाल जवाफूल हो रही थीं। कनपटी पर हथौड़ियां चल रही थीं, पैर कांप रहे थे पर उसने मिनटों में आलू की सब्जी छौंक विशुद्ध घृत में पूड़ियां उतार लीं। फिर यत्न से परस थाली

पति के सामने रख आई। देखते-ही-देखते पूड़ियों का स्तूप खेप कर, पानी गटक गला कुछ कहे लम्बी-लम्बी डग भरता शिव-सागर चला गया। किन्तु पार्वती फिर लेट नहीं पाई, रात के लिए उसने न जाने कितने व्यंजन बना डाले। दिन में अनजाने में हो गई भूल का प्रतिकार करने में उसने कोई कसर नहीं छोड़ी। आंधी के वेग से पांचों बेटे आकर स्वादिष्ट खाने पर टूट पड़े थे, "आज इसी चीजें क्यों बनी हैं अम्मा ?" छुटके ने ही पूछ दिया था। क्या कहती उससे ? वह अबोध बालक, जननी के हृदय में उठ रहे आनन्द के उत्स की थाह पा सकेगा ? विवाह के पूरे दस वर्ष बाद, तुम्हारे पिता मुझसे पहली बार बोले हैं बेटा—ऐसा कुछ कह सकती थी अपने उस लाड़ले से ? जननी के अधर पर लगे सलज्ज दिव्य स्मित को देखने की फुर्सत ही कहां थी उसके बेटों को ? अखिल, अमित, अजय, अनिल और आदित्य, सबका नाम प्रथम वर्णाक्षरी से ही चुना था दूरदर्शी पिता ने, कभी भी किसी प्रतियोगिता में बैठें तो नीचे तक दृष्टि नहीं झुकानी पड़ेगी उन्हें। खा-पीकर पांचों सो गए तो वह उस ज्वर के ताप को निःशब्द झेलती, पति का खाना लिए भूखी बैठी रही। बड़ी रात को लौटे थे शिवसागर मिश्र। पार्वती पहले हाथ-मुंह धोने को लोटा भरकर धर आई, फिर नाना व्यंजनों से सजी थाली। थाली धर वह एक क्षण को ठिठकी भी थी, क्या पता जैसे नाम लेकर पुकारा था वैसे फिर पुकारकर कह दें—पार्वती जा, अपनी थाली भी यहां ले आ।

किन्तु, उसे किसी ने नहीं पुकारा, छोटा शायद नींद में गोंगिया रहा था। वह तेजी से अपने कमरे में चली गई और फिर पूतोंवाली विराट तख्त में मछली-से तैरते, इधर-उधर हाथ-पैर फेंकते, गहरी नींद में अचेत पुत्रों के बीच किसी तरह अपनी जगह बना हाथ-पैर मरोड़ गठरी बनकर सो गई थी। वर्षों से

दूधिया हंसी। जहां चारों भाइयों के कंठ से मसें भीगते ही मातों सुर एक साथ निकलने लगे थे, वहीं पर छुटके का मिष्ट कंठ पूर्ववत् बना रह गया था। कोई जोर से उसे डपटता भी तो वह रुआसा हो जाता। पढ़ने में वह भी भाइयों की भांति तेज था। शिवसागर ने भी उन्हें उच्च शिक्षा दिलाने में कोई कसर नहीं रखी। पार्वती ने सचमुच ही अपना नाम सार्थक कर दिया था।

"बड़े भागवान हो बिरादर," शिवसागर के अभिन्न मित्र बदरी ने एक दिन कहा था, "रिटायरी से पहले ही बाघ मार बाघंबर पर बैठ गए हो। एक हमारे हैं कुलदीपक—चार हज़ार तनख्वाह पा रहे हैं, पर मजाल है जो कभी बाप को चालीस रुपये भी भेज दें, अब सुना है विदेश जा रहे हैं, कहते हैं लौट आएंगे पर हमारी मानो, हाथ से छूटा तीर और विदेश गया छिटवा कभी वापस नहीं आता।"

ठीक ही कहा था बदरी ने। उनके बड़े बेटे—अखिल को विदेश गए इस जेठ में पूरे सात साल हो जाएंगे, कहां आया लौटकर! एक बार आया था, पर वह कहां टिक सकता था गांव में? कभी एक भाई के पास, कभी दूसरे के, कभी अपनी ससुराल, सब बड़े-बड़े शहरों में थे। बाप के छोटे-से घर की मिट्टी अब उसे रोक भी कैसे सकती थी? वहां यह है, यहां वह है, झाड़ू लगाने की भी मशीन है—बाबू जी, अब देखिए ये इलेक्ट्रिक शेवर है, पर यहां बिजली ही नहीं है। शिवसागर के जी में आया कहें—बेटा, वह दिन भूल गए जब हम तुम पांचों भाइयों को एक साथ नाई की दुकान पर ले जा सवा रुपल्ली में तुम्हारे बाल छोटे-छोटे ऐन कटवा लाते थे कि महीने-भर तक फिर न बढ़ें।

पिता के लिए एक घड़ी, अम्मां के लिए एक झोला-सा स्वेटर, जिसमें उस जैसी तीन पार्वती समा सकती थीं, और

विदेशी साबुन-ब्लेड—यह सब उपहार अभी तक उनके टीन के बक्से में ज्यों-के-त्यों धरे थे— आया भी तो बाल-बच्चों को वहीं छोड़ आया—बहुत किराया है अम्मां, कुछ पैसे जमा कर लूं, फिर आएंगे।

पर कहां आए फिर! उस बड़े पुत्र से उन्हें कभी कोई आशा नहीं बंधी; छोटा था तभी से पूत के पांव उन्होंने पालने में देख लिए थे। पांचों को श्रुतिलेख एक साथ देते थे शिवसागर। वहीं एक ऐसा था जो पिता की नजर बचा कनखियों से भाइयों की कापी देख चट उतार लेता। जब जस्टिस मिश्रा उसके लिए अपनी पुत्री का रिश्ता लेकर आए तो शिवसागर को लगा, वे सपना देख रहे हैं। इतने बड़े आदमी अपनी पुत्री का रिश्ता उनके बेटे से करेंगे? बेचारे सरल मिश्रा जी समझ नहीं पाए कि वे उनके बेटे की ऊंची नौकरी से रिश्ता पक्का करने आए हैं, बेटे से नहीं। कहां राजा भोज और कहां गंगू तेली! कहां रखेंगे उस राजकन्या को!

किन्तु राजकन्या यहां रही ही कहां थी? पति के साथ उसकी नौकरी के जादुई कालीन में उड़कर सदा के लिए विदेश के शून्य अन्तरिक्ष में विलीन हो गई थी। दूसरा बेटा अमित इंजीनियर था। उसकी जिद के आगे झुक गए थे, शिवसागर। अन्न, जल त्याग, अनशन ही कर बैठा था उनका वह जिद्दी सपूत। किसी तरह उसको मां के गहने बेच, पेट काटकर ही उन्होंने उसे आई० आई० टी० में पढ़ने भेजा और इंजीनियर बनकर निकला तो इनके पहले समधी हो कब उनके हाथ का

गस्सा छीन ले गए, वे जान भी नहीं पाए। बड़ी बहन गीता ने ही छोटी रीता को देवरानी बना ऐसा अनुभूत मंत्र उसके कान में फूका कि वह विदेश चली गई। तीसरे हरामखोर बेटे अजय के विवाह के बाद तो उन्होंने उसका मुंह ही नहीं देखा, न देखेंगे। वह प्रशासकीय सेवा में आया तो कन्याग्रस्त समृद्ध पिताओं ने, उसे प्रस्तावों के चक्रव्यूह में अभिमन्यु ही बना दिया। उदार दहेज के नीलामी हथौड़ों की चोट से शिवसागर लगभग बहरे ही हो गए थे। एक चालीस हजार की घोषणा करता तो दूसरा पचास हजार, तीसरा पुत्री के साथ सजा-सजाया फ्लैट और मारुति गाडी का तोहफा सजाए चला जाता। तब तक उनके होनहार बेटे ने स्वयं ही उनका काम हल कर दिया। उसे तमिलनाडु कैडर मिला था। दुर्भाग्य से किसी दूरस्थ जिले में उसकी नियुक्ति हुई। शासन की बागडोर संभालते ही उसने खटिया पकड़ ली, पीलिया हो गया था। हालत गम्भीर होने पर भी उसने पिता को खबर नहीं करने दी। कर देता तो शायद बच जाता। अस्पताल में भर्ती हो गया। वहां जिस केरलवासिनी नर्स ने उसे रोग-मुक्त किया, उसी से विवाह कर लिया उसने। एक दिन बाद चिंतातुर पिता का जवाबी तार आया। उन्हें उत्तर मिला, मुझे और अपनी बहू को आशीर्वाद दीजिए।

"तुम हमारे लिए मर चुके हो। हम न दोनों रहें तो तुम्हें कंधा देने के अधिकार से हम वंचित करते हैं। अपना काला मुंह हमें मत दिखाना"—क्रोध से फड़कती शिखा को फहराते पंडित शिवसागर मिश्र ने स्वयं उस चिट्ठी को लेटर बाक्स में डाल वहीं पर पच्च से ऐसे थूका, जैसे निर्लज्ज पुत्र के मुंह पर थूक रहे हों। देखा जाए तो पहली बार वही आघात उन्हें पार्वती के निकट से आया था। वह आघात अकेले झेलने की शक्ति उनमें अब नहीं थी।

बेटे के तार को जब वे फाड़ रहे थे तभी कभी कुछ न पूछने वाली पत्नी चुपचाप आकर उनके पीछे खड़ी हो गई थी।

"क्या लिखा है तार में, आप इतने परेशान क्यों हैं ? सब कुशल तो है ना ? कुछ बुरी खबर तो नहीं है ?" अपनी बड़ी-बड़ी आंखों की चितातुर दृष्टि उसने पति के तमतमाए चेहरे पर निबद्ध कर पूछा।

"हां, बुरी खबर है, मर गया अमिता !"

"हे राम, हे राम !" कहती वह नित्य की भांति सिकुड़ती धरा पर ढेर हो गई थी। ठीक जैसे कोई नमक छिड़की पहाड़ी जोंक गोल-गोल घूम सहसा निःश्चेष्ट हो जाती है। "पार्वती ! पार्वती !" कह वे उसकी पलट गई पुतलियां और रक्तहीन चेहरा देख भयभीत हो गए। देही एकदम ठंडी पड़ी थी। कही दिल का दौरा तो नहीं पड़ गया उसे, इस उम्र में वह भी उन्हें छोड़ गई तो उनका क्या होगा ! जिसे जीवन-भर वे खाज से लगी कुतिया की भांति प्रताड़ित करते रहे, उसकी इस अनहोनी मृत्यु की संभावना से वे एक क्षण को स्वयं अपनी चेतना खो बैठे, यद्यपि उस संभावित वियोग के बीच भी स्वयं उनकी स्वार्थपरता ही

प्रखर हो रही थी। इसे कुछ हो गया तो दो जून की रोटी भी नसीब नहीं होगी उन्हें। पांच बेटों में से एक भी तो उनके बुढ़ापे का सहारा नहीं बन सकता था, एक छुटके से ही थोड़ी-बहुत आशा थी। पत्नी की मुट्ठी-भर की देह को शिवसागर ने उठाकर बिस्तर पर धरा, हाथ-पैरों को रगड़-फूंक गर्म करने की चेष्टा की पर वह निःचेष्ट पड़ी रहीं। भागकर वे अपने एकमात्र हितैषी-मित्र बदरी को बुला लाए। वही कभी अपने इस पाषाण हृदय मित्र को गऊ-सी निरीह पत्नी के प्रति दुर्व्यवहार के लिए क्षमा नहीं कर पाए थे। आश्चर्य था कि सर्वथा विपरीत स्वभाव होने पर भी दोनों आज तक अपने स्कूल की मैत्री को पूर्ववत् बनाए चले आ रहे थे। सस्कारशील शिवसागर के मुंह से कभी किसी ने आज तक क्रोध आने पर भी गाली नहीं सुनी थी। बदरीप्रसाद के हर वाक्य का आरम्भ और अन्त साले से होता था। न उनपर परिवार का बोझ था, न पत्नी का अनुशासन, विधुर बदरी घोर नास्तिक थे, मांस, अण्डा, मछली से उन्हें कोई परहेज नहीं था। मित्र के साथ प्रति मंगल हनुमान मन्दिर अवश्य जाते पर बाहर ही खड़े रहते—'निगरगंड मोटा, नफा न टोटा' का मूल मंत्र जपते वे जीवन के सत्तर नीरस वर्ष काट चुके थे। न उन्हें भविष्य की चिंता थी, न वर्तमान की। एक बार बेटे से रूठे तो उससे रिश्ता ही तोड़ लिया। सामान्य-सी पेंशन मे उनकी गुजर हो ही जाती थी। फिर शिबू जैसा उदार मित्र भी तो था। उस दिन भी वे उस मित्र की विपत्ति की घड़ी मे भागते चले आए।

"क्या हुआ ? सच-सच बताओ साले।" सब कुछ सच-सच बता दिया था शिवसागर ने और अबोध बालक-से सिसकते, पत्नी के हिम-शीतल पैरों पर गिर पड़े थे—"मुझे माफ कर दे पार्वती, मैंने तुझे बहुत सताया है, कसाई हूं मैं!" सदा अकड़ से

सीना कबूतर की तरह ताने चलने वाले अपने अहंकारी मित्र को उस दीन-हीन मुद्रा में देख बदरी पसीज गए, "हो तो साले पूरे कसाई पर जो होना था सो हो गया। लाओ, पकड़ो जरा, ःटिया से देही तो उतारनी ही होगी—गंगाजल है घर में, और कुश ?" दोनों मित्रों ने फूल-सी देह को नीचे धरा। फिर शिवसागर ने जो किया, उसके लिए बदरी प्रस्तुत नहीं थे। पागलों की तरह वे झुके और पत्नी की निष्प्राण देह को चूमने लगे। उसके रक्तहीन अधर, कपोल, केश, ललाट, पैर।

"पागल हो गया ! उनकी आत्मा को कष्ट होगा," बदरी ने मित्र का कंधा पकड़कर झकझोरा, "शांत-स्थिर होकर बैठे रहो। मैं मोहल्ले में खबर कर आऊं। मिट्टी समय से ही उठानी होगी—बाहर भूरी बदरी घिरी है, कहीं पानी न बरसे।"

सहमा बोलते-बोलते बदरी, भय से निष्प्राण देह की ओर अंगुली उठाकर बोला, "अरे देख, देख, भाभी की सांस चलने लगी। हाय राम, कैसा पाप होने जा रहा था हमसे ! यही तो मैं सोच रहा था—ऐसी सती-लक्ष्मी पूस की अमावस में इस घर को छोड़ कैसे जा सकती थी। देख मित्र, अब किसी से कुछ कहियो मत, भाभी से भी नहीं। समझा ? वह हमें कभी माफ नहीं करेगी—मेरे पास पिता जी का दिया मालती बसंत धरा है। मैं ले आऊं, दूध में पिला देंगे। असली चीज है, बप्पा कहते थे, 'बदरी, घाट में पड़े मुर्दे के मुंह में भी डाल देगा तो वह घर लौट आएगा।' फिर सारी रात दोनों मित्र अचेत पार्वती के सिरहाने बैठे रहे थे, पलक भी नहीं झपकायी दोनों ने। धीरे-धीरे सांस का वेग प्रखर होता चला गया।

"जा साले, अब बढ़िया चाय बना ला, जल्दी—लगता है पसलियों में ठण्ड घुस गई है। तू फिकर मत कर, अब कुछ नहीं होगा भाभी को।"

शिवसागर ने क्या आज तक कभी चाय का पानी भी खौलाया था ?

अनाड़ी-अनभ्यस्त हाथों से पानी खौलाया, फिर बड़ी देर तक चाय का डिब्बा खोजता रहा, न जाने किस डिब्बे में रखती थी पार्वती। चाय बनी और गिलासों में डालने लगा तो अंगुलियां जल गईं, असहाय अश्रुजल से उसकी आंखें डबडबा आईं, कितना अकर्मण्य बना दिया था उसे पार्वती ने ! आज वह चली गई होती तो जीवन कैसा दुर्वह बन उठता !

पार्वती ने अभी भी आंखें नहीं खोली थी, पर सांस की ऊर्ध्व गति, स्वाभाविक छंद में उतर आई थी।

"अब सरऊ, हम तुम्हारी पोल खोलकर रख देंगे, आने दो भाभी को होश में। तुमने उनकी जमीन पर धरी देही के साथ क्या किया, कह देंगे हम।" चाय के घूट सशब्द सुड़कते, बदरी ने बड़ी दुष्टता से एक आंख भींच दी।

"क्या किया था मैंने ?" कुछ न समझ पाने का उपक्रम कर रहे अभिनय-विधुर पैंसठ वर्ष के पंडित शिवसागर मिश्र के दोनो पिचके कपोल सहसा किसी प्रणयिनी किशोरी के कपोलों-से आरक्त हो उठे।

"अब बनो मत साले, पूछते हैं क्या किया मैंने ! अजी हम न होते तो पूतोंवाली को छठा बेटा दे दिया होता तुमने।"

जिस अमावस की मनहूस रात्रि का प्रारम्भ दोनो मित्रों के लिए करुणाविहीन यम के आगमन से भयानक बन उठा था, उसका अन्त हुआ उतना ही मधुर, उतना ही सुखद।

दोनो मित्रों के बीच फिर न जाने कितनी बार चाय का दौर चला, उन सुखद क्षणों में संस्कारशील शिवसागर मिश्र बदरी की निम्न स्तरीय परिहास रसिकता को भी चटकारे ले-लेकर

चाय के साथ घूटकते रहे।

"अब मैं चलूं, चिंता मत कर, तेरी घरैतिन लौट आई है घाट से। पर सुन, अब इस बुढ़ापे में जवानी में किए एक-एक अपराध की माफी से क्षमा मांग लेना। फूलों की सेज पर सुलाना अब बुढ़िया को।"

वही किया था शिवशंकर मिश्र ने और आज तक किए चले आ रहे थे। यौवन में किए गए एक-एक असभ्य अपराध का पूरा प्रायश्चित्त कर रहे थे वे। पार्वती अभी इतनी दुर्बल थी कि स्वयं उठ नहीं पाती थी, उसे सहारा देकर उठाते, हाथ-मुंह धुलाते, नहा-धोकर चाय बनाते, फिर दलिया बना, अपने हाथों से उसे खिलाते और हर कौर के साथ क्षमा मांगते चले जाते।

"मुझे माफ कर दिया न पार्वती ? तूने नहीं किया तो भगवान भी मुझे कभी माफ नहीं करेगा।"

बिस्तर पर पड़ी पार्वती एकटक अपनी तरल दृष्टि से पति को देखती रहती। क्या वह सचमुच उसका पति कह रहा था या वह कोई सपना देख रही थी ? यदि वह सपना ही है प्रभो, तो इसे भंग मत करना, मैं बिस्तर पर मुंह-मुंह पड़ी यही सपना अन्त तक देखती रहूं। वह पति, जिसने कभी उसके यौवन को स्वयं अपने हाथों चौदह वर्ष का वनवास दे दिया था, अब उसे पान के पत्ते-सा फेर रहा था, "मैं उस दिन गुस्से में बौरा गया था पार्वती, मैंने कभी सोचा भी नहीं था कि वह हमारे कुल को ऐसे डुबोकर रख देगा—जानती हो, वह लड़की ईसाइन है। उसके एक मित्र ने लिखा है मुझे।"

"क्यों जी छोटा करते हैं आप ?" अपने मधुर शांत स्वर को मंजीरे-सी झनकाती वह पति को दिलासा देने लगी थी, "भगवान की यही इच्छा रही होगी। फिर पहले जनम में कुछ बुरे करम किए होंगे हमने।"

शिवसागर आश्चर्य से पत्नी के पीले चेहरे को देखते रहे थे। न उत्तेजना, न क्रोध। शांत झील-सी आंखों में पुत्र की अबाध्यता के ढेले ने, सामान्य-सी हलचल भी नहीं की थी। कहां से आ गई उसमें ऐसी दार्शनिकता?

पार्वती का दुःख इस समय एक ही था, उस आकस्मिक झटके ने उसके हाथ-पैर काटकर बिस्तर पर डाल दिया था, वह पति के लिए कुछ भी नहीं कर पा रही थी। छिः-छिः, लेटे-लेटे पलंग ही तो तोड़ रही थी, बस। और वे जिन्होंने कभी आटे की लोई भी हाथों में नहीं ली थी, उन्हें चूल्हे-चक्की से जूझना पड़ रहा था। बार-बार वह आंखें बन्द कर ईश्वर से एक ही याचना करती—मैं इन्हीं की गोद में आंखें मूंदू और मेरे दो नादान बेटे और कुछ न कर बैठें। पर दूसरे ही महीने चौथा बेटा भी हाथ से निकल गया। उससे तो यही उम्मीद भी थी। वह डाक्टर था और भोली पार्वती भी इतना जानती थी कि डाक्टर अमूमन डाक्टरनी ही लाता है। पर क्या उनके समाज की डाक्टरनी नहीं जुटती उसे? बाप से एक बार तो मुंह खोलकर कहा होता। उसपर सुना, बहू का बाप, भतीजे की हत्या के अपराध में किसी जेल में आजन्म कैद की सजा भुगत रहा था। यह अच्छा हुआ कि विवाह होते ही डाक्टरों का वह जोड़ा स्वयं विदेश की ओर उड़ गया। अब केवल छुटका बचा था। इस बार शिवसागर मिश्र मन-ही-मन दृढ़ निश्चय कर चुके थे कि इस पांचवें बेटे को अपने ही द्वार के खूंटे से बांधकर रख देंगे, भागकर देख तो ले—वह तब प्रशासकीय सेवा में आकर मसूरी में ट्रेनिंग पा रहा था।

बदरी कह रहा था, "वहां भी समझ लो, कुआरों की हाट लगी रहती है—ठीक जैसे सोनपुर का पशु मेला। वहीं या तो लड़की स्वयं फांस लेती है या लड़की का बाप। फिर छुटका तुम्हारा बहुत सीधा है। बिरादर, ऐसे डरपोक अनाड़ी तैराक ही

जल्द डूबते हैं। मेरा कहा मानो तो कोई अच्छे घर की पढ़ी-लिखी लड़की देख बात पक्की कर लो। शादी ट्रेनिंग के बाद होती रहेगी।"

यही तो किया था उन्होंने, फिर भी ठगे गए। बहुत ठोक-बजाकर लिए गए मटके मे भी कभी घर लाने पर छेद निकल आता है। वही हुआ। एक तो छुटका बचपन से ही उनकी छाया से भी डरता था। पढ़ने मे अत्यन्त मेधावी था फिर भी, गणित में १०० में से ६६ अंक पाने पर भी बाबू जी का मत्था सिकुड़ जाता, "क्यों बे, एक नम्बर किसमे कटा?" वे गरजकर पूछते तो वह कुछ बोल नही पाता। इसीसे, जब उन्होंने कड़ककर कहा, "हमने तुम्हारा रिश्ता पक्का कर दिया है, इसी बैसाख मे लगन निकली है।" वह बेचारा एक शब्द भी नहीं कह पाया। यह भी नही पूछ सका कि कौन है वह? लड़की—पढ़ी-लिखी है या अम्मां की तरह बुढ़ापे मे भी घूंघट निकाले रहेगी। किन्तु शिवसागर मिश्र ने अपने सजीले बेटे के लिए टक्कर की ही लड़की ढूंढ़ी थी। गोरी,उजली, दुबली-पतली, तीखे नैन-नक्श और कान्वेंट-शिक्षिता। बदरी के साढ़ू ही बिचौलिया बने थे। कन्या के पिता ने पुलिस विभाग के सर्वोच्च पद से अवकाश ग्रहण किया था। इसीसे रस्सी जलने पर भी रस्मी ऐंठ नहीं गई थी। चाल में अभी भी अकड़ थी। आवाज में कड़क, बदरी के ही कहने पर शिवसागर मिश्र ने उसी शहर मे कुछ दिनों के लिए एक कोठी किराये पर ले ली थी और वहीं से विवाह निबटा गाव चले आए थे, पुलिस महकमे के अपने रौबीले समधी को भला वे अपने गाव के उस छोटे-से मकान मे बरात लाने को कैसे कह सकते हैं? विवाह का निमंत्रण, उन दो निष्कासित बेटों को नही भेजा गया, जिन्होने अंतर्जातीय विवाह किए थे। उन दो बेटों को, जिन्होंने अपने ही समाज में

विवाह किया था, बड़ी आशा से ही निमंत्रण भेजा गया था, पर वे भी नहीं आए। एक ने अपनी बीमारी की बात लिख असमर्थता व्यक्त की थी, दूसरे ने पत्नी की। "हम जानते हैं कैसी बीमारी है पार्वती !" लम्बी सांस खींचकर शिवसागर मिश्र ने कहा था, "आ जाते तो जरा हमारी भी नाक ऊंची हो जाती, उन ऐंठू समधी के सामने कि देखो, हम भी एकदम गए-बीते नहीं हैं।"

छुटके की बहू भी एक ही बार गांव आई, फिर आज तक उसका द्विरागमन कभी नहीं हुआ। कितने वर्ष बीत गए थे फिर। अब तो छुटके के बालों में भी सफेदी आ गई थी। तसवीर भेजी थी उसने, दुबली-पतली बहू फूलकर ढोल हो रही थी। उस पर भी छुटका बराबर यही लिखता था कि रीना बीमार है। हर तीसरे साल गुलाब की कलम की भांति, उसकी देही काटी-छांटी जाती। एक-न-एक अपारेशन होता रहता। कभी रीना की आमाशय की पथरी निकाली जा रही है, कभी एपेंडिक्स और कभी बच्चेदानी।

शिवसागर मिश्र एक ही बार पुत्र की गृहस्थी देखने गए थे, जब वह नया-नया कलक्टर बना था।

"अम्मां को नहीं लाए, बाबू जी ?" बहू ने पूछा था, बोलने की तो वह ऐसी मीठी थी कि शिवसागर को भय होता, कहीं उससे अधिक बतियाए तो उनकी ब्लड शुगर न बढ़ जाए।

"नहीं।"

"क्यों, तबीयत ठीक नहीं है क्या ?"

"तबीयत-उबियत सब ठीक है, पर हमने सोचा, बुढ़िया अभी भी घूंघट निकालती है, तुम्हारी कलक्टरी में बेमेल लगेगी।"

मर्मस्थल पर चोट करना खूब जानते थे मिसिर। यह भी कह सकते थे कि बेटा, तुमने तो अम्मां को साथ लाने को लिखा नहीं था, यही लिखा था कि बाबू जी, आप एक बार आकर हमारी गृहस्थी देख जाइए। जिसने दस महीने पेट में रखा उसका ध्यान नहीं आया पुत्रवर? पर यह सब नहीं कहा उन्होंने, पर जो गोली उन्होंने दागी थी वह ठीक बेटे की छाती में जाकर धंस गई थी। तड़पकर रह गया था वह! ठीक ही तो कह रहे थे बाबू जी। वह सर्वस्व त्यागिनी जननी, जिसके पेट में हाथ डाल वह उनके पास सोने के लिए चारों भाइयों को सींग मार-मारकर दूर खदेड़ देता था, उसे वह सचमुच ही भूल गया था। अब वह संसार में दो ही व्यक्तियों से डरता था। दोर्दंड पिता से और उग्रतेजी अग्निगर्भा पत्नी से। कहीं अम्मां से कुछ कह बैठती रीना तो बाबू जी अनर्थ कर सकते थे। छुटके का छोटा बेटा आनन्द तब अंग्रेजी स्कूल में पढ़ रहा था। बड़ी बेटी भी कान्वेंट में पढ़ रही थी। शिवसागर मिश्र को पोते की वह शिक्षा एकदम नापसन्द थी। जब देखो तब हाथ में कामिक्स और मुंह में च्युगम।

"अरे, यह क्या गाय-भैंस की-सी जुगाली करता रहता है तू! क्या खाता है दिन भर?" कामिक्स के आनंदोदधि में आकंठ डूबे पौत्र की उस चुप्पी को अबाध्यता समझ, शिवसागर मिश्र बौखला गए थे। बहू-बेटे के साथ वे नाश्ता कर रहे थे। छुटका भी कई बार बेटे को नाश्ता करने बुला चुका था। वह उठ ही नहीं रहा था। "अरे सुना नहीं क्या? मैं पूछता हूं, क्या चबा रहा है तू?" शिवसागर की 'भृकुटि विलास सृष्टि लय होई' वाली मुखमुद्रा पहचानते ही छुटका कांप गया, कहीं हाथ न उठा बैठें बाबू जी।

वही किया उन्होंने, उठे और चट से एक चांटा धर दिया अबाध्य पौत्र के गाल पर।

बेचारे नहीं जानते थे कि जिसे वे पौत्र की अबाध्यता समझ रहे थे वह तो इस युगीन पीढ़ी की विशेषता थी। यदि हाथ में कामिक्स हो तो एक प्रश्न को चार बार पूछिए। तब कहीं अन्यमनस्क उत्तर मिलेगा, "हूं!"

जिस छुटके ने अपने कैशोर्य तक, बाप के ऐसे अनेक झापड़ खाकर भी कभी मुख खोलना नहीं सीखा था, उसीका बेटा नन्हे संपोले-सा तनकर खड़ा हो गया और डस ही दिया पितामह को, "हाउ डेयर यू! क्यों मारा मुझे, कौन होते हैं आप!"

एकाएक शिवसागर मिश्र का वर्षों से भूला-बिसरा उग्र अनुशासन पूरी शक्ति से उनके चौड़े पंजे में उतर आया। वही शिवसागर, जो स्कूल के छंटे-से-छंटे शातिर छात्र को अपने एक ही झापड़ से सीधा कर देते थे, उठे और बोले, "अभी बताता हूं, कौन होता हूं मैं!"

फिर चटाचट-पटापट थप्पड़ों की शिलावृष्टि से भयभीत हो बहू ने पिटते पुत्र को खींचकर छाती से लगा लिया था। "जानवर, जंगली हैं आप," वह ससुर से कहती हांफने लगी, "हमने आज तक इसे कभी फूल की छड़ी से भी नहीं छुआ!" छुटका चुपचाप बैठा रहा, न उसे पिता का पक्ष लेने का साहस था, न पत्नी का।

"वह तो देख ही रहा हूं," शिवसागर ने नाश्ते की अनछुई प्लेट दूर खिसका दी, "तुम दोनों के दुलार ने ही इसकी यह हालत कर दी है। सातवीं में पढ़ रहा है और कल गणित का एक सामान्य-सा प्रश्न भी हल नहीं कर पाया। न अंग्रेजी ही ढंग की लिख पाता है, न हिंदी। विज्ञान में एकदम गोल। कहता है डैडी ने कैलकुलेटर मंगा दिया है, हम कैलकुलेटर से सवाल करते हैं। एक दिन जब समझ में आएगा इसके दिमागी कलपुर्जों में तुम यह सब दिलवाकर जंग लगा रहे हो, तो बहुत देर हो चुकी

होगी। लानत है तुम पर, जो इसे अब तक सामान्य शिष्टाचार भी नहीं सिखा पाए—न बड़ों का आदर, न छोटों में प्यार, न नौकरों से ढंग से बातें करना। कल तुम्हारा अर्दली स्कूल पहुंचाने देर से आया तो पूछो क्या कहा इसने ?"

"क्या कहा मैंने ?" बेटे का बेटा, क्रुद्ध जंगली बिल्ले-सा कूबड़ निकाल, ऐसे आगे बढ़ा जैसे उनका मुंह नोच लेगा।

"जो तुमने कहा, वह मैं अपनी जबान पर भी नहीं ला सकता···मैं इसे पढ़ाने लगा," वे पहली बार खिसियाये नतमस्तक बैठे बेटे की ओर बढ़े, "तो तेरी बहुरिया को कहने लगी—मैंने वह सब सुन लिया छुटके, जो यह बरामदे में तुमसे कह रही थी। बेचारी शायद देख नहीं पाई कि मैं भीतर ही बैठा अखबार पढ़ रहा हूं।"

छुटके का चेहरा झुकता-झुकता एकदम ही नीचे आ गया था। उसका बस चलता तो वह मेज के नीचे दुबक जाता। "वह कह रही थी," शिवसागर कहने लगे, "तुम्हारे बाबूजी तो आनंद के पीछे हाथ धोकर पड़ गए हैं, स्कूल से लौटकर एक मिनट सुस्ता भी नहीं पाता बेचारा। जब देखो तब उसकी गर्दन दबोचे बैठे हैं। अब घर जाने को कहें तो तुम उन्हें मत रोकना, कुछ महीने और रह गए तो आनंद का भेजा ही चाट उसे कूढ़मगज बना देंगे" ठीक कहती हो बहू - कहीं वैसा ही न बना दूं जैसे अपने पांच बेटों को बना दिया है, दो आई० ए० एस० एक, डाक्टर, एक इंजीनियर और एक वैज्ञानिक। आज जिसके पढ़ाए विद्यार्थियों में से कोई कमिश्नर है, कोई पुलिस का वरिष्ठ अधिकारी, वह तुम्हारे बेटे को कूढ़मगज ही तो बना देगा। बहू, इतना हम समझ गए हैं, तुम्हारी पंगत में अब हम बूढ़ों की पत्तल नहीं बिछ सकती। भलाई इसी में है कि हम सब बुड्ढे-बुढ़ियों को, जिन्हें तुम अपनी भाषा में 'ओल्डीज'

कहते हो, एक कतार मे खड़ा कर धांय-धांय गोली चला ढेर कर दो। न रहेगा बांस न बजेगी बेसुर बांसुरी।"

और फिर उसी क्षण शिवसागर मिसिर बिना खाए-पिये अपना बुकचा सटकाए पुत्र के गृह से निकल गए थे।

एक-दो बार अपराधी पुत्र ने प्रायश्चित करने की चेष्टा भी की। एक बार दो हजार का ड्राफ्ट भेजा, दूसरी बार पूरे पांच हजार का, पर दोनों ही बार ड्राफ्ट उसी के पते पर लौट आए। अब तो पांचों पुत्रों के मोह-बंधन से मुक्त हो गए थे शिवसागर। उन दोनों की पेंशन, उन दो प्राणियों के लिए बहुत थी, उस पर चाय-पानी का ऊपरी खर्चा वे दो-तीन ट्यूशनों से निकाल लेते थे। संध्या होते ही दोनों मित्र घूमने निकल जाते, लौटते तो पार्वती चाय खौलाकर तैयार रखती। क्या चाय बनाती थी पार्वती ! गुड़ का सोंधा स्वाद, तुलसी की पत्ती, सोंठ, इलायची, न जाने कौन-कौन-से मसाले कूटकर धरे रहती शीशी में, गाढ़ी चाय और गाढ़ा दूध। एक ही घूंट, शरीर के समस्त वात-पित्त को हवा में उड़ाकर रख देती थी। कभी-कभी मित्र को शिवसागर जबरन खाने के लिए भी रोक लेते, रात अधिक हो जाती तो बदरी, छत के कमरे में ही खटिया डालकर सो जाते। छत का वह कमरा उस पैतृक गृह का सबसे पुराना कमरा था। चारों ओर ईंटों की जीर्ण दीवारों को अधःपतन से रोकने के लिए, दोनों मित्रों ने किसी प्रकार से चार मोटे बांस लगा दिए

थे। शिवसागर की गृहस्थी की गाड़ी ठीक ही चल रही थी। पर इधर पार्वती का क्रमश: रक्तशून्य हो रहा चेहरा, उन्हें सहमाने लगा था। क्या हो गया था उसे ? क्या पुत्रों की उदासीनता ही उसे घुला रही थी या कोई घातक रोग लग गया था उसे ? आजकल तो जिसे सुनो, उसे ही कैंसर घसीटता मृत्यु को खोह में लिए चला जा रहा था। कहीं कैंसर ही तो नहीं हो गया उसे ? अपनी ओर से तो उन्होंने उसकी देख-रेख मे कही भी त्रुटि नहीं रहने दी थी। रात-रात-भर उसका हाथ अपने हाथों में लिए बैठे रहते थे। पर बेचारा शुष्क शिवसागर, वह यही नहीं जानता था कि बहुत दिनों के भूखे को यदि छप्पन प्रकार के व्यंजन एक साथ खिला दिए जाएं. तो पेट भर वह खुराक उसके लिए कुपथ्य ही बन उठती है। यौवन-भर तो वे उसे भूखी ही छोड़ गए थे। अब इस वय मे वे लाख व्यंजन परस उसके सम्मुख धर दें— वह क्या खाक खा पाएगी ? वह मुंह खोलकर कुछ बताती नहीं थी पर वे देखते, प्राय: ही वह सामान्य-से कार्य से भी थककर, पति की दृष्टि बचा, बीच-बीच मे चुपचाप खटिया पर पसर जाती। यही सब देख, आत्मसम्मान को ताक मे धर पूरे दस वर्ष बाद छोटे पुत्र को पत्र लिखा था। वह अब सचिव का पदभार ग्रहण कर दिल्ली पहुंच गया था। सुना था, दिल्ली ही अब अफसरों का मदीना थी, मंत्रियों का महातीर्थ। छुटका चिकित्सा विभाग का सचिव था। संपूर्ण भारत के धन्वंतरियों की जन्म-कुंडलियां उसकी मुट्ठी मे बन्द रहती होंगी। दिन-दिन घुलती मा की देह को शायद पुत्र के पद की महत्ता बचा ले। धीरे-धीरे उन्होंने पार्वती को भी उस चिकित्सा यात्रा के लिए पटा लिया था। वह बेचारी पांचो पुत्रों की देहरी पर ठोकर खा चुकी थी कि अब सहज में, पतिगृह की देहरी की लक्ष्मण रेखा लांघने में भी डरती थी। पूरा महीना बीत गया। छुटके का उत्तर नहीं

आया। इस बीच पार्वती की हालत और गिर गई, फिर शिवसागर मिश्र ने स्वयं निर्णय लिया, वे उसके पत्र की व्यर्थ प्रतीक्षा नहीं करेंगे, स्वयं पार्वती को लेकर पहुंच जाएंगे।

"बदरी", उन्होंने अपने मित्र से कहा, "सोच रहे हैं, तुम्हारी भाभी को लेकर दिल्ली हो ही आएं। छुटका कई बार बुला चुका है।" बदरी ने बड़ी ही व्यंग्यपूर्ण दृष्टि से मित्र को देखा। अपने प्रश्न को तिर्यक् स्मित से और भी घातक बनाकर पूछा, "अच्छा? बुलाया है छुटके ने? हो आओ बिरादर, पर जल्दी लौट आना।" छुटके को मा के हाथ के बने गोंद-मेवे के लड्डू बेहद पसंद थे। उस हालत में भी आधी रात तक जगकर पार्वती ने लड्डू बनाए, मठरी, बेसन का लट्ठा और खोरमा, पूरी कनस्तरी ही भर-भरकर धर ली। जब अपनी गठरी, कनस्तरी और रंग उड़े फूलदार बक्से के साथ, पुत्र की कोठी पर पहुंचे तो देखा, स्टूल पर बैठा गोरखा दरबान बीड़ी पी रहा है। उसने पहले उस देहाती जोड़े को द्वार पर ही रोक दिया। पर फिर परिचय पाते ही वह उन्हें भीतर ले गया, "आप ड्राइंग रूम में बैठिए साब, मेम साब कहीं गया है, अभी आता ही होगा।"

दोनों अपने ही बेटे के गृह में सहमे अनजान अतिथि-से घंटों बैठे रहे। कैसी सुन्दर सजावट थी कमरे की, मूर्तियां, मखमली सोफा, जहाज-सी कुर्सियां! सहसा पुत्र के वैभव के बीच, पार्वती को अपना अतीत याद हो आया। कितना संकुचित था वह अतीत और कितना उदार था यह वर्तमान! इन बच्चों के वैभव की प्रतीक थी तब घर की एकमात्र आराम कुर्सी जिसे उनके बाबू जी, एक बार शहर जाने पर नीलाम से खरीदकर लाए थे। पार्वती ने ही उस ढीली पड़ रही बेंत की बुनावट को बचाने के लिए पुराने लिहाफ की रूई भर एक गुदगुदी गद्दी बना दी थी। उसमें अर्धशायित पति की रौबदार मुद्रा पर वह बाहर-

भीतर जाते, बार-बार न्योछावर होती थी। मजाल थी, शिवसागर के घर पर रहते कोई उस कुर्सी पर बैठ तो जाए, पर जहां वह घर से बाहर जाते, तो पांचों बेटे उस पर टूट पड़ते। जो पहले अपने बाहुबल से चारों को पराजित कर उस पर बैठता, वही से विजयपूर्ण घोषणा करता—'राजगद्दी मेरी।'

आज, उसके पांचों बेटे एक से बढ़कर एक राजगद्दियों पर आसीन थे। सारथी के हाथों से पांचों की लगाम कब की छूट चुकी थी। क्या अब उन्हें घर की उस राजगद्दी की याद आ सकती थी?

उसने कनखियों से पति को देखा, न जाने किस सोच में डूबे थे—जरा-सा मुंह निकल आया था। घर पर होती तो अब तक उन्हें तीन-चार बार चाय पिला चुकी होती। ऐसे बिना छुटके को बताए क्या उनका यहां आना उचित था?

इतने ही में कार का शब्द सुन दोनों एक साथ चौंके, पार्वती ने अब तक छाती से चिपकाई दबी पोटली नीचे धर दी। शिवसागर ने रुग्ण पत्नी की भय से फैली तरल पुतलियां देख उसकी ठंडी हथेली, अपने सशक्त पंजे में थामकर, मूक आश्वासन दिया, 'घबरा नहीं पार्वती, कहीं जंगल में तो नहीं आए हैं, हैं तो हमारे बेटे ही का घर।' खट-खट करते जूतों की आहट जितनी ही निकट आ रही थी, पार्वती का पिद्दी-सा कलेजा उतनी ही बार धड़क रहा था—धड़, धड़। पूरे दस वर्ष बाद देख रही थी उसे, कितना बदल गया था छुटका—अधपके बाल, खिचड़ी मूंछें, पर अब भी कैसा सजीला लग रहा था नीले सूट में। पीछे-पीछे बहू थी। रंगे होंठ, कटे बाल, संवरा भृकुटि-विलास। उदर-दर्शिनी ब्लाउज से निकली मेद-बहुल परतें।

बेटे का चेहरा देखते ही शिवसागर समझ गए कि उनका ऐसे बिना पूर्वअभिज्ञता के यहां चले आना बेटे को अच्छा नहीं

लगा।

"आपने कुछ लिखा नही, एकदम ही चले आए बाबू जी," उसके कठ की झुंझलाहट कुछ अधिक ही तीखी हो उठी।

"क्यों ? चले जाएं क्या ?" शिवसागर भी नहले पर दहला थे।

"नही-नही, कैसी बातें करे रहे हैं आप ?" उसने खिसिया-कर बात पलट दी, "तार कर दिया होता तो हम स्टेशन पर आ जाते।"

"तुम्हारी अम्मा की क्या हालत है, देख ही रहे हो। सोचा, जिस ऊंचे ओहदे पर हो, इसे आसानी से डाक्टरों को दिखा सकोगे, चिट्ठी तो लिखी थी, तुमने जवाब दिया ही कहां ?"

"आप नही जानते, मेरी नौकरी कैसी है। कभी-कभी बारह बजे रात तक घर नही आ पाता। फिर यह दिल्ली है बाबू जी, यहा डाक्टरो से भी महीना-भर पहले एप्वाइटमेंट लेना पड़ता है। खैर, आप हाथ-मुंह धोकर कुछ खा-पी लें, फिर कल देखी जाएगी।"

"बच्चे कहा है छुटके ?" पार्वती ने डरते-डरते ऐसे पूछा जैसे कोई अपराध कर रही हो। छुटका जोर से हंसा, पार्वती के हृदय में ढुलकता स्मृति-कलश एक बार फिर छलक उठा, ठीक वैसे ही हंसता है अब भी, जैसे पहले हंसता था। सिर पीछे कर आंखें मूद लेता था हंसने में।

"अब वे बच्चे कहा रहे अम्मा, स्मिता बम्बई मे एक होटल मे रिसेप्शनिस्ट है, आनन्द पूना में है, फिल्म इंस्टिट्यूट मे पढ़ रहा है।" शिवसागर मिश्र के चेहरे की मासपेशियां तन गईं, "अच्छा, तो भाड़ ही बना रहे हो बेटे को ?"

"कैसी बात कर रहे हैं बाबू जी।" देश की राजधानी का वह वरिष्ठ सेनापति अपने पिता की बात सुन भन्ना उठा था।

बहू ने सास से एक शब्द भी अब तक नहीं कहा, वह ससुर की बात सुनते ही भीतर चली गई। पीछे-पीछे छुटका।

न फिर बेटा ही झाकने आया, न बहू। पलंग बिछाकर नौकर ही ने पूछा, "आप क्या खाएंगे साहब ?"

"कुछ नहीं, हम अपना खाना साथ लाए हैं।" शिवसागर को पार्वती ने शकित दृष्टि से देखा, कही फिर कुछ उलटा-सीधा न कह डालें—आते ही तो बहू-बेटे को नाराज कर दिया।

दोनो ही फिर पुत्र की उस सजीली कोठी में, बिना कुछ खाए-पिए हो सो गए थे।

दूसरे दिन शिवसागर की आंखें खुली तो पार्वती, दोनो हाथ छाती पर धरे चुपचाप छत को देख रही थी। चेहरा एकदम ही धूसर पड़ गया था। न जाने प्राण कहा टिके थे उसके। कंकाल-सी देह पर, मास की एक पारदर्शी परत मात्र रह गई थी।

"कैसा जी है पार्वती ?" उन्होने बड़े लाड़ से, उसके ललाट पर हाथ धरा और चिहुंककर हटा लिया। ठंडे पसीने से ललाट भोर को भीगी हुई दूब-सा आर्द्र था।

"सुनो जी, मुझे आज ही घर ले चलो," उसने पति का हाथ पकड़ लिया, अश्रुवाष्प से उसका कंठ अवरुद्ध हो गया।

एक ही वाक्य मे उस निरीह नारी ने अपनी समस्त, सन्तानजन्य व्यथा उड़ेलकर रख दी थी। वे जानते थे कि वह कितने उत्साह मे यहा आई थी। छुटका उसके कलेजे का टुकड़ा था। बार-बार बदरी से उसने कहा था, "देखना, अब की पूरा महीना बच्चों के साथ बिताकर आऊंगी·· छुटके से कहूंगी—

जब आई ही हूं तो चल, छब्बीस जनवरी का जलसा दिखा ला हमें। दिसम्बर तो यही बीत गया, दिन ही कितने हैं।"

फिर रात-रात जागकर नाश्ता तैयार किया और कनस्तरी में भरा था बेचारी ने, आज वही रत्नगर्भा कनस्तरी, अनाथ कोने में धरी थी। बहू का उस सुदामा की तंदुल-भरी पोट की ओर भर्त्सनापूर्ण दृष्टिपात शिवसागर ने देख लिया था। पार्वती कितनी ही भोली क्यों न हो, पुत्र के व्यवहार से वह जान गयी थी कि उनके आकस्मिक आगमन ने बहू-बेटे को पुलकित नही किया है। एक बार परदे की आड़ से ही छुटका कह गया, "मैंने अपने पी० ए० से कह दिया है। वह ग्यारह बजे तक आप लोगों को लेने आएगा, वही अम्मा को सब टेस्ट्स करवा देगा। अम्मां, आप सुबह कुछ खाइएगा नही, सब जांच खाली पेट ही होगी।"

शिवसागर सन्न रह गए थे, मृत्युद्वार पर खड़ी जननी को स्वयं दिखाने का भी समय नही है पुत्र को? आधी रात को आंखे खुली तो देखा, पार्वती उकड़ू होकर बैठी, दोनो घुटनो के बीच सिर छिपाए सिसक रही है।

वे हड़बड़ाकर उठे और दोनो हाथो से सिसकती पार्वती पर झुक गए, "क्या बात है पार्वती, कहा तकलीफ है?"

"मुझे अभी घर ले चलो जी, यहा मेरा दम घुटा जा रहा है।"

"ठीक है, ठीक है पार्वती, हम कल ही लौट जाएंगे। अभी इतनी रात को तो कोई सवारी भी नही मिलेगी, आओ, सो जाओ।" उन्होने उसे ऐसे पुचकारा जैसे किसी अबोध बालिका को पुचकारकर मना रहे हों। आज्ञाकारिणी वालिका-सी ही वह चुपचाप पति के पार्श्व में सो गयी और अपने कृशकाय बाहुपाश में उसने पति को ऐसे जकड लिया जैसे वह उसे छोड़कर कही

रहा हो। सा तो उसने पहले कभी नहीं किया था, एक अज्ञात आशंका से शिवसागर का हृदय कांप उठा, यह कैसा बचपना कर रही थी वह? क्या किसी चिरंतन वियोग की आशंका ही उसे ऐसे त्रस्त कर रही थी, या बेटे-बहू की बेरुखी से डरकर वह भयभीत कपोती-सी उसे ऐसे जकड़े जा रही थी? उसकी दुबली-पतली देह का अविराम कंपन, स्वयं दीर्घदेही शिवसागर की चट्टान-सी देह को थरथर कंपा रहा था। तब क्या यही मृत्यु कंप था? कभी-कभी वह फुसफुसाकर कहती, "वह आ रहे हैं, वह देखो, वहां।"

"कहां, कौन आ रहे हैं पार्वती? यहां तो कोई भी नहीं है। रुको, मैं बत्ती जला दूं।" किसी तरह उसके बाहुपाश से अपने को मुक्त कर शिवसागर उस अनजान कमरे की परिक्रमा कर, दीवारों पर स्विच ढूंढ़ने लगे और द्वार से टकरा गये। ललाट पर गूमड़ उभर आया पर स्विच नहीं मिला। हारकर वे पार्वती के पास आकर लेट गए, वह चुपचाप पड़ी थी। क्लांत, टूटी, निश्चेष्ट।

कहीं सब कुछ शेष तो नहीं हो गया? घबराकर उन्होंने अपनी हथेली उसकी नाक से सटा ली—नहीं, सांस चल रही थी।

"हे भगवान, यदि मैंने जीवन-भर कोई पाप नहीं किया हो तो इसे इस घर में कुछ न हो, यह उसी घर से जाये, जहां इसकी स्मृतियों से भरा अशर्फियों का घड़ा गड़ा है।"

भोर हो गई थी। सहसा कहीं कौए एक साथ कांव-कांव कर उठे। सड़क पर दो-तीन कुत्ते विकृत स्वर में विलाप कर उठे, एक टिट्टिभ चीखती आकाश की शून्यता को चीरती निकल गई। सूर्य की पहली किरण पार्वती के सफेद चेहरे पर पड़ी, आश्विन के श्वेत फेनिल मेघ ही जैसे उसके चेहरे पर आकर

बिखर गए थे। अपनी देह पर झुके चिन्तातुर चेहरे को देख उसने हंसने की चेष्टा की पर ललाट पीड़ा से संकुचित हो गया। "क्या बात है पार्वती, बहुत कमजोरी लग रही है ना।"

एक बार उसके कांपते अधर फिर दयनीय चिरौरी में सिमट गए, "अब तो भोर हो गयी, मुझे घर ले चलो जी।"

"ठीक है, तुम लेटी रहो, अभी सब सो रहे हैं, जागने पर जाने नहीं देंगे। मैं सवारी ले आता हूं।" फिर थोड़ी ही देर में शिवसागर स्कूटर ले आए, घर से बाहर ही रुकवा आए थे, जिससे उसकी घर्र-घर्र से कोई जाग न पड़े। ऐसी हालत में पार्वती को बिना आरक्षण के कैसे ले जा पाएंगे, यह बात भी सोचने का अवकाश नहीं था उन्हें, पहले सामान धरा, फिर क्रुद्ध आशुतोष-से पत्नी की देह कंधे पर डाल वे स्कूटर में बैठ गए।

याडं में खड़ी ट्रेन सहारनपुर जा रही थी, टिकट लेकर उसी में बैठ गए। जाए किसी भी पुर, यह मनहूस शहर तो पीछे छूटेगा। उस धूल का एक-एक कण, बिच्छू बना उन्हें हर पल डंक दे रहा था। इस शहर को छोड़ते ही पार्वती ठीक हो जाएगी। उनका अनुमान ठीक था। गाड़ी के चलते ही पार्वती उनकी गोद में सिर धर गहरी नींद मे डूब गयी।

न जाने कितनी बार गाड़ी बदली, कभी ट्रेन और कभी बस मे लंबा सफर तय कर दोनो अपने घर पहुचे तो रात हो आयी थी। अब कैसा भय! कुंभीपाक नरक से निकल अब वे दोनों अपने नंदन कानन में पहुंच गए थे। यहां से उनकी पार्वती को खींच ले जाएं इत्ते बाल थे क्या यमराज की छाती मे?

दूसरे दिन तड़के ही बदरी आ गए, शिवसागर कुछ न पूछे जाने पर भी निरंतर पुत्र के वैभव का वर्णन किए जा रहे थे—"दो-दो कारें खड़ी रहती हैं दरवाजे, एक दफ्तर की, दूसरी अपनी। बहुत बड़ी कोठी है, पर पैर कहां टिक पाता है बेचारे का। अभी प्रधानमंत्री के साथ जापान गया, उससे पहले वाशिंगटन, बहुत मानते हैं उसे।"

"अब चुप भी करो साले, दाई से पेट नहीं छिपता है! हम जान गए हैं कि खोटे सिक्के-से ही फेर दिए गए हो। हम क्या इन अफसर बेटों को नहीं जानते? पर हमें बुरा यह लग रहा है बिरादर, हमारे चंदर ने और उसकी बहू ने हमें कान पकड़कर निकाल बाहर किया, तो हमने चट तुमसे सब उगल दिया। एक तुम हो, कि हमी को उल्लू बनाए जा रहे हो।" मुंहफट मित्र का उपालम्भ दोनों को निर्वाक् बना गया।

"ठीक कहते हो बदरी, हम इससे रास्ते-भर यही कहते रहे कि तुझे गांववालों ने पूतोंवाली का खिताब दिया, इससे तो निपूती कहा होता। वह जो कविता हमने बचपन में पढ़ी थी बदरी, कि :

पांच पूत रामा बुढ़िया के, बाकी बचा न एक वही हो गया हमारे साथ।"

"चुप भी करो," पार्वती का क्षीण स्वर भी एक पल को तीखा हो उठा, "ऐसी अमंगली बात मुंह से मत निकालो, पांच-पांच बेटों के रहते मैं क्यों निपूती होने लगी?"

"मैं जानता हूं बिरादर", बदरी ने अधजली बीड़ी रगड़कर बुझा कान में खोस ली। भाभी को बीड़ी का कड़वा धुआं बहुत बुरा लगता था, "यह दर्द कभी जाता नहीं, औलाद की दागी गई गोली, चिता में चढ़ने तक कलेजे ही में धंसी रहती है," उसी गोली को कलेजे में लिए बदरी, पिछले दस सालों से ऐसे ही घूम

फेरकर हंसने लगी—उसने इस बच्चे की पहली नैपी धोने का नेग ही एक सौ एक रुपया लिया था। फिर तो दूसरे ही दिन से मिर्जई कनटोप पहन बदरी दूबे, निरंकुश मस्ती में पुत्र की कोठी का चक्कर लगाने लगे। कभी चौकीदार से बतियाते, कभी नौकर से, कभी नन्हे पोते पर प्यार उमड़ता कि उसे चूमच टकर बेहाल कर देते। उनकी इन सस्ती हरकतों से बहू का खून खौल उठता।

सुबह उठते तो साथ लाई दातुनों के गट्ठर से एक निकाल, घंटों चबाते, कान पर जनेऊ डाले घूमते रहते। फिर पूरे हाथ को कंठनली में डाल विचित्र भयावह शब्द करते खंखारते और फिर लान की झाड़ियों के पीछे ही लघुशंका से निवृत्त होने बैठ जाते। खाना अपने कमरे में ही खाते। महीने का आटा आठ ही दिन में साफ होने लगा। रोटियों-पर-रोटियां दागते चले जाते, उस पर कहते, "भई, तुम्हारी बम्बई की सब्जियों में स्वाद नहीं है।"

"स्वाद होता तो पता नहीं कितना भकोसते।" बहू की हड्डियां जलभुनकर खाक हो जातीं, यह सब सुनकर पूरे पंद्रह दिन बीत गए, तब ही यह भयंकर दुर्घटना घट गई थी। कोकाकोला बदरी दूबे ने कभी पिया नहीं था, बेटे के यहां पूरा क्रेट धरा रहता। पहले-पहल तो बड़े सकोच से कभी-कभार एक-आध बोतल पी लेते पर एक दिन घर पर अकेले ही थे, इधर-उधर देख आधा क्रेट ही रिक्त कर दिया उन्होंने। घूम-घामकर बेहद थक गये थे, रात को सोये तो गहरी नींद आ गई। फिर सोते में पेशाब कर बैठे।

"साहब, चाय," कहकर बेटे का नौकर सिरहाने चाय का गिलास थामे खड़ा था, वे हड़बड़ाकर उठ बैठे। दुष्टता से मुस्कराता नौकर बड़े मनोयोग से उस जलकुंड को देख रहा था।

बुढ़ापे में कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है, यह बात पच्चीस बरस का मुस्टंडा क्या समझता।

वे खिसियाये, गुसलखाने में भीगी चादर धोने जा ही रहे थे कि बहू-बेटे, दोनों तमतमाया चेहरा लेकर उनके कमरे में आ गए, "छिः-छिः बाबू जी, आप क्या यहां हमारी नाक कटवाने ही आए थे? सब नौकर हंस रहे हैं। मुंह दिखाने लायक नहीं रखा हमें। लीजिए।" सौ-सौ के तीन नोट उनकी मेज पर पटक चंदर ने कहा, "मैंने ड्राइवर से कह दिया है, दस बजे गाड़ी जाती है, आपको बिठा आएगा।" बदरी दूबे का चेहरा तमतमा उठा, उन्होंने मुंह नहीं खोला। चादर वहीं पटकी और अपना इधर-उधर फैला सामान थैले में भरने लगे। फिर बिना बहू-बेटे की ओर एक बार भी देखे, वे अपने भद्दे जूते फटफटाते बाहर निकल गए। इसके बाद उन्होंने कभी पैर गांव से बाहर नहीं निकाला।

"अब यहां से सीधे घाट ही जाएंगे बिरादर, समझे? हमारे लिए चंदर मर गया, मर गया उसका बेटा और उसकी बहू। निपूते हो गए हैं हम और आज फूलोंवाली पार्वती भी उनकी बिरादरी में आ गई।"

संध्या होते ही पार्वती की हालत में और सुधार हो गया। उसने स्वयं मांगकर कटोरा दूध पिया, बिस्तर पर ही कंघी-चोटी की, भीगे गमछे से मुंह पोंछा, बड़ी-सी टिकुली लगाई, सांग भरी, फिर हंसकर दोनों मित्रों से कहा, "जाइए, आप लोग टहल-बहल आइए, रोजाना जैसे जाते हैं, हम अब ठीक

हैं।" दोनों निश्चिन्त हो, कुंडी चढ़ा घूमने निकल गए। मंगल था, महावीर जी के दर्शन किए, प्रसाद चढ़ाया और लौट पड़े। रास्ते-भर बेटे-बहुओं के दुर्व्यवहार की व्याख्या के पारस्परिक आदान-प्रदान से दोनों के चित फूल-से हलके हो गए थे।

कुंडी खोलकर भीतर गए तो मूर्तिवत् खड़े ही रह गए। पूरा शृंगार किए पूतोवाली धरा पर पड़ी थी।

शिवसागर जैसे पत्थर बन गए थे, न आंखों में आंसू, न अधरों का कंपन। वह ध्यानमग्न उस जितेन्द्रिय सिद्ध-से पार्वती के सिरहाने अडिग बैठे थे, जिसने अपनी तस्कर रूपी छहों इन्द्रियों को पालतू कुत्ते-सा बाँध लिया हो।

"जोर से रोकर निकाल दो सब दरद, नहीं तो पगला जाओगे।"

पर वे नही रोये। एकटक क्या देख रहे थे उस निश्चेष्ट देह में ?

पूरी रात ऐसे ही कट गई थी। इस बिछोह की घड़ी में वे किसी प्रकार का व्याघात नही चाहते थे। सुबह होते ही बदरी दूबे खड़े हो गए थे। "बेटों का पता दे दो, खबर करनी होगी।"

"नही," मेघ-से गरज पड़े थे शिवसागर मिश्र, "मेरा कोई बेटा नही है, निपूतों ही रही, उसे निपूती ही जाने दो।"

खबर पाते ही पूरा गांव उमड़ पड़ा था—पैरों की धूल लेने गांव की बहू-बढ़ियां एक-दूसरी पर गिरी जा रही थीं।

"पूतोवाली काकी सुहागन चिता चढ़ रही है, अरी सब पैरें छू लो," बड़ी-बूढ़ियां कह रही थीं।

मुट्ठी-भर की देह को भस्मीभूत होने में आधा घण्टा भी नहीं लगा। दोनों मित्र हारे-थके जुआरी-से घर लौटे तो संध्या सघन हो चुकी थी। अर्थी के कुछ मुरझाये फूल अभी भी देहरी

पर पड़े थे—बाहर झमाझम पानी बरसने लगा था। बीच-बीच में बिजली की चमक आंखें चौंधिया रही थी। दसों दिश दहलाने वाली गर्जना के साथ कहीं बिजली गिरी।

"वह पहुंच गई।" सम्मुख लाल-लाल आंखों से बदरी को देख, शिवसागर सिंह ने पहली बार मुंह खोला।

"कौन?" आश्चर्य से सिंह की विचित्र दृष्टि और उसकी भी विचित्र मुस्कान से त्रस्त होकर बदरी ने पूछा, "कौन पहुंच गई है?"

"दुर्गेश्वरी, वहां।" कह शिवसागर ने अपनी तर्जनी ऊपर आकाश की ओर उठा दी।

बदला

इसी गृह की एक महीने पहले कैसी अद्भुत शोभा थी ! एक ही महीने में जैसे वही गृह श्रीहीन हो गया था। गृह के द्वार पर बड़ा-सा ताला लटका था। यद्यपि संगीनधारी प्रहरी अभी भी वैसे ही खड़े थे। द्वार के शीशों में लगे गृह के नवीनतम सज्जा के समस्त उपकरण वैसे ही धरे थे। बाग में बंदगोभी-से गुलाब अभी भी हवा में झूम रहे थे। झूमते भी क्यों नहीं—संपन्न-समृद्ध गृहस्वामी ने एक-एक गुलाब की कलम के लिए सैकड़ों रुपये लुटाकर धर दिए थे। हर महीने रहमान कसाई ताजे जिबह किए बकरों के लाल गाढ़े रक्त से हर गुलाब की जड़ सींच जाता था। क्राटेन की पुष्ट शाखाओं को गलबहियां देती रक्तजवा, चन्द्रमल्लिका, गंधराज। दूर-दूर तक सुवास की पिचकारियां छोड़ती वेला, जुही, और बाग के बीचोंबीच खड़ी संथाल वंशी-वादक की दर्शनीय मूर्ति, जिसे बनवाने में त्रिभुवननाथ को जेब से कुछ नहीं देना पड़ा था—एक बदनाम मूर्तिकार को उन्होंने कभी बेदाग बचा लिया था, वही कृतज्ञता का स्तंभ नित्य उनके फौव्वारे की रसधार से स्वयं भी सिक्त होता और देखने वालों को भी रससिक्त करता रहता था।

त्रिभुवननाथ कौल को विधाता ने व्यक्तित्व भी कोठी-से मेल खाता दिया था—ऊंचा-अगला वह रौबदार अफसर, पुलिस के महकमे की ठसक को पूर्णरूप से सार्थक करता था। कभी-कभी वह स्वयं ही अपनी नवीन बिरादरी की हंसी उड़ाने लगता, "जैसे अब खूबसूरती दुनिया से लगभग उठ ही गई है, ऐसे ही रौब-दबका भी उठ गया है। इसी से तो अब ला एण्ड आर्डर को पुलिस की लाज पगड़ी का भय नहीं रह गया। पगड़ी तो अब भी वही है, पर उसे बांधने वाले सिर कहां रह गए हैं ? न वर्दी पहनने का ढंग, न ढंग की कद-काठी। बौने-बछड़े सब आकर पुलिस में भर्ती होने लगे हैं।" सचमुच त्रिभुवननाथ का रौब ऐसा था कि बड़े-से-बड़े घाघ नेता भी उनसे सिफारिश करने में घबराते थे। भगवान ने भी उन्हें सब कुछ दिया था। सुन्दरी-वामांगी, प्रभावशाली उच्चपदस्थ ससुर, जो अवकाश प्राप्ति के बाद भी प्रत्येक विवेकशील अफसर की भांति मृत्युपर्यंत एक संस्थान के चेयरमैन बने रहे। किन्तु विधाता की यह अकृपणता, त्रिभुवननाथ को पुत्र-संतान देने में अंगूठा दिखा गई थी। उनकी मां उन्हें दिलासा देतीं, "अच्छा ही हुआ, जो बेटा नहीं हुआ। सभी कुछ तो दे दिया भगवान ने, बेटा भी हो जाता तो अपनों ही की नजर तुझे खा लेती बेटा!" वयस के तीसवें वर्ष त्रिभुवन-नाथ को पुत्री की प्राप्ति हुई थी, वह भी अपूर्व रूपसी पुत्री। लगता था, कोई शापभ्रष्ट गंधर्व कन्या ही पृथ्वी पर अवतरित हुई है। त्रिभुवननाथ की पत्नी रामेश्वरी भी पिता की इकलौती संतान थी, पिता की आकस्मिक मृत्यु के पश्चात मां भी उसी के साथ रहने लगी थीं। पितृगृह के वैभव की धारा भी अब मां के साथ-साथ, उसी के गृहोदधि में एकाकार हो गई। नाना ने ही पुत्री का नाम धरा था—रत्ना।

"त्रिभुवननाथ, विधाता ने तुम्हें रत्न दिया है," उन्होंने

दामाद से कहा था, "इसे सहेज कर रखना।"

पर कहां सहेज पाए बेचारे त्रिभुवननाथ। शिक्षा के लिए त्रिभुवननाथ ने उसे नैनीताल भेज दिया था। मां और दादी-नानी का दुलार लड़की को आवश्यकता से अधिक उद्धत बना रहा था। यहीं पर भूल की थी उन्होंने। जर्मन नर्स की पिलाई गई घुट्टी से नानी-दादी की पिलाई गई घुट्टी उसके भविष्य के लिए अधिक हितकर होती— कम-से-कम ऐसी संस्कारहीनता नहीं आ पाती उसमें।

स्कूल की पढ़ाई पूरी करते ही रत्ना ने जिद पकड़ ली थी कि वह दिल्ली जाएगी—उसके साथ की सब लड़कियां दिल्ली जा रही हैं। त्रिभुवननाथ नहीं चाहते थे कि वह दिल्ली जाए, पर वह नहीं मानी। वहां से पढाई पूरी कर लौटी तो त्रिभुवननाथ ने देखा, लड़की के पर निकल आए हैं और संसार की कोई भी शक्ति अब उसे शून्य गगनांगन में स्वच्छन्द उड़ान भरने से नहीं रोक सकती। वह अब एक नयी ही बचकानी जिद पकड़ बैठी थी —उसकी कोई सहेली, नृत्य सीखने कलाक्षेत्रम् जा रही थी —वह भी जाएगी! त्रिभुवननाथ ने लाख समझाया, "देखो बेटी, किसी भी प्रसिद्ध-से-प्रसिद्ध नृत्यांगना को ले लो। उसका पारिवारिक जीवन कभी सुखी नहीं रहता। ऐसी तीन प्रख्यात नृत्यांगनाओं को मैं जानता हूं। तुम भी उनसे मिल चुकी हो। भले ही राजधानी के नृत्यमंच से लेकर भारत के प्राचीन मंदिरों के खडहरो में नाच-नाचकर देश-विदेश मे प्रचुर ख्याति बटोर चुकी हैं पर भीतर की हमसे पूछो, दो तो पतियों से बिलग हो चुकी है, तीसरी की दुर्दशा तुमसे भी छिपी नहीं है—अब दिन-रात पी-पीकर गम गलत कर रही है। पहले भारत में आए किसी भी विदेशी वी० आई० पी० को भारत यात्रा उसका नृत्य देखे बिना सम्पूर्ण नहीं होती थी, अब उसी पर मक्खियां भिनक रही

हैं, ठुड्डी से लेकर पेट तक, थ्री टियर मांस की परतें झूल रही हैं, कभी किसी की उपपत्नी बनी डोलती है, कभी किसी की। हां, तुम गाना सीखने की बात कहो, तो मैं अब भी समझ सकता हूं। वृद्धावस्था में भी कंठ की ख्याति मलिन नहीं होती।"

"नहीं, मैं नाच ही सीखूंगी और वह भी किसी ऐरे-गैरे नत्थू-खैरे से नहीं, कलाक्षेत्रम् ही जाऊंगी।"

"बेबी, उतनी दूर मैं तुम्हें कैसे जाने दे सकता हूं? जमाना बहुत खराब है। दिन-रात ऐसे बीसियों केस मेरे पास आते रहते हैं, जहां चलती ट्रेन में···।"

"ओह डैडी, कम आन—मैं अब बच्ची नहीं हूं।"

और वह नाच सीखने कलाक्षेत्रम् चली ही गई। जहां न मां, दादी-नानी की स्नेहसिक्त दृष्टि का घेरा था, न कठोर पिता के अनुशासन के अंकुश से दिन-रात कोंचे जाने का भय। फिर तीन वर्षों तक वह बहुत कम घर आ पाई थी। अक्सर कलाक्षेत्रम् के सांस्कृतिक दल के साथ यहां-वहां आती-जाती रही।

जब अपनी नृत्य-शिक्षा पूरी कर घर लौटी तो उसका आत्म-विश्वास उसे जैसे और भी दबंग बना गया था। एक बात और भी थी, बचपन से ही उसने अपने दुर्धर्ष पिता द्वारा सरल-निरीह जननी को निरन्तर दबाया जाना ही देखा था। पानी का गिलास भी उठाना होता तो त्रिभुवननाथ पत्नी ही को हांक लगाते। यह ठीक था कि पिता की तुलना में मां का व्यक्तित्व बहुत दुर्बल था। पिता लम्बे-चौड़े सुदर्शन व्यक्ति थे। मां दुबली-पतली, बूटे कद की, देखने में साधारण, अल्पभाषिणी-मृदुभाषिणी, ठेठ भारतीय पत्नी थी। उसने मां को कभी जोर से बोलते भी नहीं सुना था। बेचारी जीवन-भर दबती ही रही, पहले सास से, फिर पति से। पिता के अन्याय को, अपनी नियति की देन मानकर चलने वाली, अपनी उसी सरल जननी की निरीहता ही ने शायद

पुत्री को ऐसी उग्र तेजस्विनी बना दिया था। पिता के प्रत्येक हितैषी प्रस्ताव को भी पांवो तले निर्ममता से कुचलने में रत्ना को एक विशेष प्रकार की आत्मतुष्टि का अनुभव होने लगा था। वह जानती थी कि राजधानी में उसके मंच पर अवतरित होने के समाचार से त्रिभुवननाथ प्रसन्न नही हुए थे। उसे तो आशा भी नही थी कि अन्त तक त्रिभुवननाथ उसके कार्यक्रम में आ भी पाएंगे, निश्चय ही एक-न-एक बहाना बनाकर उस दिन शायद शहर से ही चले जाएं। किन्तु वे आए, पर जननी, सास एवं पत्नी के साथ दर्शकों की पंक्ति में बैठे त्रिभुवननाथ की मुखमुद्रा अन्त तक कठोर ही बनी रही। पत्नी कनखियों से पति की प्रतिक्रिया देखने की चेष्टा कर रही थी, पर एक भी गर्व की रेखा वह बेचारी नहीं ढूढ़ पाई। एक-दो बार तो उसे लगा, पति का चेहरा गुस्से से तमतमा उठा है। रत्ना आत्मविभोर होकर नाच रही थी, भौंहों को खीच, बार-बार कटाक्ष निक्षेपण करती, विलासपूर्ण चकरघिन्नियां खाती, विचित्र रूप से शारीरिक चेष्टाओं का प्रदर्शन करती, दक्ष फिरकियों में लट्टू-सी घूमती दुहिता के नृत्यकौशल को त्रिभुवननाथ सहन नहीं कर पा रहे थे। अंत में मृत्तिकाघट सिर पर रख वह कांसे की थाली पर नाचती-थिरकती कुछ क्षणों को जैसे मंच पर रहकर भी तिरोहित हो गई थी। कैसी अद्भुत कला-प्रवीणता थी! लग रहा था, वह क्षण-भर में व्याप्त होकर क्षण-भर में छोटी बनी जा रही, कभी निकट, कभी दूर, कभी आकाश में उछलकर सुनहला विंदु बनकर खो जा रही थी और कभी चक्रनृत्य में उसकी सुराहीदार ग्रीवा ही जैसे धड़ से विलग होकर दायें-बायें घूम रही थी। उन्मत्त भाव से नृत्यरता पुत्री की सुकुमार छवि सहसा क्यों उन्हें ज्वलंत अग्निशलाका से दग्ध कर रही थी? किसकी विस्मृत छवि उन्हें बार-बार अतीत की ओर खींच रही

थी ? सहसा उन्होंने सहमकर मुंह फेर लिया।

वह बेसुध होकर नाचती रही, नृत्यरत गौर, आलतारंजित चरण युगल, जैसे मंच पर होकर भी नहीं थे। उसके आघूर्णन वेग से तरंगित, कटि की करधनी छन-छनकर इस प्रकार भ्रमित हो रही थी, मानो किसी पहाड़ी देवालय में पतली रस्सी से बंधी नन्हीं-नन्हीं घंटियां वात्याचक्र से उद्वेलित हो टुनटुना रही हों। उद्दाम नृत्यवेग से रक्ताभ झीना उत्तरीय रह-रहकर उड़ा जा रहा था, आगे लटकी पुष्प-भार से नमित दीर्घ वेणी प्रतिक्षण क्रुद्ध नागिन-सी उद्धत कंचुकीपट पर पछाड़ें ले रही थी। बार-बार नृत्य-वेग से ऊपर-नीचे गिरता सुडौल उभार किसी मंदिर के शीर्ष पर धरे अधोमुख स्वर्णघटों की भांति उतनी ही बार कांप रहा था, जितनी बार उस क्षीण कटि प्रान्त को उसके नृत्य-विलास की झंझा झकझोर रही थी।

दर्शकों में बैठे अपने अवकाश प्राप्त अफसर सक्सेना को त्रिभुवननाथ ने देख लिया था। उन्हें लगा, आज उसके सामने पुत्री का नृत्य उन्हें धरातल में खींचता जा रहा है। यह उनके आभिजात्य की, उनके ठसके की सबसे बड़ी पराजय थी। एक पल को लगा, हरामखोर सक्सेना उन्हें देख मूछों-ही-मूछों में मुसकरा रहा है। सक्सेना की दुष्कीर्ति भला किससे छिपी थी ! ठीक वैसे ही, जैसे स्वयं त्रिभुवननाथ का अतीत भी सक्सेना की कुटिल दृष्टि से कभी छिपा नहीं रहा। दोनों नहले पर दहला थे। आज उसी के सामने पुत्री का नृत्य, स्वयं उनके अहं की पराजय थी। रूप, वर्ण, आभिजात्य विलासिता, लावण्य और लास्य की साकार व्याख्या बनी उसकी बेहया बेटी क्या सक्सेना जैसे नारीलोलुप व्यक्तियों का मनोरंजन नहीं कर रही थी ? उसे लगा, जैसे दूर बैठा सक्सेना सहसा उसके कानों में फुसफुसा रहा है, 'क्यों, क्या अन्तर है इसके और बेनजीर के नृत्य में ?

वह यदि मुजरा था, तो यह क्या है ? इसी नाच ने तो बेचारी बेनजीर के चेहरे को बीभत्स बना दिया था, आज उसे बीभत्स बनाने वाले तुम्हारे बाप की इज्जत कहां गई ?'

एक झटके से त्रिभुवननाथ उठकर बाहर चले गए। उन्हें लगा, जैसे वे स्त्री के शरीर का व्यापार करने वाले लंपटों के किसी कुख्यात अड्डे पर छापा मारने आए हैं और कामातुर अपराधियों को उन्होंने रंगे हाथों पकड़ लिया है। दूसरे दिन अखबारों में पुत्री के नृत्य की कलमतोड़ प्रशंसा छपी, दिन-भर बधाई के फोन की घंटी घनघनाती रही। एक प्रमुख अखबार ने मुखपृष्ठ पर ही रत्ना की दर्शनीय तसवीर छापकर लिखा था —साक्षात् उर्वशी का धरा पर अवतरण। नानी ने नजर उतारी, दादी ने अपने विवाह की आरसी मुंदरी निकालकर उसे पहना दी। रामेश्वरी ने बार-बार बेटी को छाती से लगाया। किन्तु कठोर प्रशंसाकृपण पिता काठ की मूरत बना रहा। जान-बूझकर ही त्रिभुवननाथ किसी लम्बे दौरे का बहाना बनाकर निकल गए। बेचारे क्या जानते थे कि अपने गृहदाह का अन्तिम महत्त्वपूर्ण परिच्छेद तो उन्हें लौटकर पढ़ना है।

रात को देर तक स्टडी में बैठ फाइल निबटाना उनका नित्य का नियम था। इधर लम्बे दौरे के बाद फाइलों का स्तूप जमा हो गया था। पहले भी उन्हें देर तक पढ़ने की आदत थी। कभी-कभी रात के बारह भी बज जाते। सोने के कमरे में आते तो प्रायः ही रामेश्वरी गहरी नींद में डूबी मिलती। कभी-कभी उसका सुकुमार-निष्पाप चेहरा देख उन्हें पश्चात्ताप भी होता। बेचारी ! कितना कम समय मिलता है उन्हें उसके लिए, जिसने

दुख-सुख में निरंतर उनकी अनुगामिनी बन पूरे तीस वर्ष गुजार दिए थे। न कभी कोई उपालम्भ, न कभी कोई याचना—फिर उनके अतीत की वह दुखती रग क्या उनकी नज़र में नहीं आई थी ! पति के उस अविवेकी आचरण को भी उसने माफ कर दिया था। यही नहीं, सास की सेवा करती रही थी वह ! मां के दबंग स्वभाव को त्रिभुवननाथ जानते थे। वे स्वयं मां की इकलौती संतान थे, इसी से बड़े होने पर भी मां उन्हें अब तक बंदरिया के बच्चे की भांति छाती से चिपकाए फिरती थी। अभी तक वे मां के लिए नन्हे ही बने रह गए थे।

"इकलौती बहू होना कोई हंसी-खेल नहीं होता बेटी, समझ-बूझकर सब सहती रहना, नहीं समझ लेना कि बुढ़ापे तक तू सास के लिए डोली से उतरी नवेली ही बनी रहेगी।" रामेश्वरी विदा में मिली मां की सीख को अब तक गांठ में बांधकर चलती रही थी, इसी से शायद कभी ठोकर नहीं खाई। सास के लाड़-दुलार का भी अन्त नहीं था और शासन के कठोर थपेड़ों का भी—'कहां जा रही हो बहू ? नन्हे अभी तक नहीं आया ? —कब तक लौटेगा ? देर मत करना—क्या बन रहा है ? आज मेथी की गोली बनेगी, आज बामन बनेगा—नहीं, सालन नहीं बनेगा आज—इतना दूध लेने की क्या जरूरत है ?' आदि-आदि अनेक अवांछित आदेशों के अंकुश झेलते-झेलते वह अब अभ्यस्त हो चुकी थी। वह जान गई थी कि पति के राज्य में उसकी अपनी इच्छा और अनिच्छा का कभी प्रश्न ही नहीं उठ सकता।

जीवन-संध्या प्रौढ़ हो चली थी और वह अब भी नवेली बहू बनी रह गई थी। उस रात को जब त्रिभुवननाथ कमरे में सोने आए तो देखा, रामेश्वरी कुर्सी पर बैठी है।

"अरे, तुम अभी तक जग रही हो—सोई नहीं क्या ?"

रामेश्वरी कुछ भी नही बोली, अपनी सहमी-छलछलाई आंखें उसने पति के चितातुर चेहरे पर निबद्ध कर दीं। "रत्ना..." कहते ही रामेश्वरी का गला रुंध गया।

"क्या हुआ रत्ना को ?" इधर पिता-पुत्री के बीच मुंहबोल हां-ना तक ही सीमित थी पर पुत्री त्रिभुवननाथ के कलेजे का टुकड़ा थी। उसे हरारत भी होती तो भी वे बौरा जाते।

"रत्ना कहती है, वह अपने मन की शादी करना चाहती है, उसने अपने लिए लड़का देख लिया है।"

"कौन है वह ?" पत्नी पर बड़े लाड़ से झुके त्रिभुवननाथ सहसा शंकित मुद्रा में सतर होकर खड़े हो गए। जैसे भावी जामाता का नाम सुनने से पहले ही वे जान गए थे कि लड़का जो भी हो, पुत्री का चुनाव कभी सही नही हो सकता।

"उसी के साथ कलाक्षेत्रम् मे नाच सीखता था, कोई अरुण मल्होत्रा। अब फिल्म इंस्टिट्यूट मे चला गया है।"

त्रिभुवननाथ का चेहरा तमतमा उठा, लग रहा था पुलिस का अदृश्य बैटन उछलकर उनके हाथ मे आ गया है।

"कैसी बातें कर रहे हो रामू ! एक तो नचनिया, उसपर फिल्मी हीरो। करेला, वह भी नीम चढ़ा। मैं यह कभी नही होने दूंगा।" वे पिंजरे मे सद्य: बन्दी बनाए गए वन्य नरभक्षी शेर की ही भांति गरजते चक्कर काटने लगे।

भयभीत रामेश्वरी की जीभ तालू से सट गई।

बड़बड़ाते जा रहे थे वे, "एक तो नाचने वाले मर्दों से मुझे सख्त नफरत है, निश्चय ही कंधे तक अयाल फटकारे,

होंठ-गालों पर रंग पोते, छाती में काठ की गेंदें लगाने वाला कोई जनखा-सा छोकरा होगा। फिर हमारा खानदान ! जरा सोचो रामू, तुम्हारे पापा आई० जी०; मेरे डैडी आई० जी०, स्वयं मैं · नहीं, यह कभी नहीं हो सकता। मैं छोकरी को जिंदा गाड़ देना पसन्द करूंगा, बनिस्वत इसके कि वह गले में ढोल बांधकर भांड-मिरासी के पीछे-पीछे भागे।"

वड़े साहस से रामेश्वरी ने पुत्री का पक्ष लेने की चेष्टा की, "कैसी बातें कर रहे हैं, अब क्या आपका-हमारा जमाना रह गया है कि जहां मां-बाप ने बांधा, वहीं बंध गए ? वह तो गनीमत समझिए कि लड़की ने कम-से-कम हिंदू लड़का तो छांटा, अपने उन आई० जी० को ही लीजिए—लड़का मुसलमान बहू ले आया तो क्या कर लिया उन्होंने ?"

"चुप रहो !" गरजने में जैसे त्रिभुवननाथ के फेफड़े बाहर निकल आए, "तुमने और तुम्हारी मां के ही दुलार ने लड़की का सिर फिराया है, अभी कल ही तो फूफी का खत आया है, उन्होंने तीन-तीन लड़कों का पता भेजा है, तीनों पुलिस महकमे के आला अफसर और तीनों कश्मीरी। समझाओ उसे रामेश्वरी, यहां उसकी शादी मैं हर्गिज नहीं होने दूंगा।"

"मैंने उसे बहुत समझाया, पर तुम तो अपनी बेटी को जानते हो, उसे जिद चढ़ गई तो चढ़ गई। कहती है, लड़का बड़ा नेक है।"

"मैं कुछ नहीं सुनना चाहता—तुम्हें ही उसे समझाना होगा। तुम तो जानती हो, मेरे समझाने के तौर-तरीके और हैं। तुम्हारे समझाने से नहीं समझी, तो फिर मुझे वही करना पड़ेगा।"

रामेश्वरी कांप उठी—क्या करना पड़ेगा पति को ? उनके स्वभाव को वह जानती थी, क्रोध आने पर वह उन्मत्त

वृषभ की भांति, जिसे चाहे उसे सींगों पर धर पटक सकते थे।

उस दिन पूरे घर मे कोहराम मच गया था। बुद्धिमती रामेश्वरी ने जान-बूझकर ही अर्दली-नौकरों को किसी-न-किसी काम से बाहर भेज दिया था, पर द्वार पर खड़े संगीनधारी प्रहरियो को कहां भेज सकती थी ? जितनी जोर से त्रिभुवन-नाथ गरज रहे थे, उससे दोगुनी तीखी आवाज मे रत्ना चीख रही थी, बाप-बेटी सांप-नेवले-से आमने-सामने तने खड़े थे। कभी सांप फन उठाकर नेवले पर चोट कर रहा था और कभी नेवला सांप का फन मुह मे दबोच उसे पटक रहा था।

"मैंने कह दिया डैडी, मैं अरुण से ही शादी करूंगी। आपको मेरे लिए कुछ नही सोचना होगा। मैं कोई बच्ची नही हूं, अपना रास्ता खुद ढूढ़ सकती हूं। मैं बालिग हूं।"

"मैं तुमसे ज्यादा जानता हूं। ऐसी बीसियो बालिगों की दुर्दशा दिन-रात देखता आया हूं। आये दिन ऐसे प्रेमी के साथ *भागी मूर्ख छोकरियां थाने में बन्द रहती है। पुलिस के दो डंडे* पड़े और सारा प्रेम काफूर हो जाता है। फिर मां-बाप के पास पहुंचा दी जाती हैं और उनके प्रेमी साले प्रेम से हवालात की हवा खाते हैं। मैं तेरी शादी हर्गिज नही होने दूंगा।"

"मैं भी उसी से शादी कर आपको दिखा दूंगी डैडी।"

"ठीक है, तब निकल जा मेरे घर से।"

"हां-हां, निकल जाऊंगी, अभी, इसी पल।" और सचमुच ही वह नानी-दादी को धक्के देती तीर-सी निकल गई थी। और उसी क्षण पुलिस के महकमे की कुछ वर्षों से अचल पड़ी रक्त-वाहिकाएं त्रिभुवननाथ की रगो में एक बार फिर दौड़ने लगी थी। पहले वे सड़क पर उद्भ्रांत-सी भाग रही बेटी को लगभग खींचकर कार में बिठा घर ले आए, फिर उसे बेरहमी से कमरे

में पटक उन्होंने ताला मार दिया। ग्रिल्ड खिड़की से उस ऊंचाई से उसके नीचे कूदने का प्रश्न ही नहीं उठता था। ऐसा साहस उनकी नाजों में पली नकचढ़ी बेटी को दस जनम में नहीं होगा। यह वे जानते थे। ताले की चाबी ट्यूनिक की जेब में डाल वे दिन-भर न जाने कहां चले गए।

बड़ी देर तक द्वार की दरार से आती सिसकियों को सुन, तीन-तीन विवश नारी-मूर्तियां बिना खाए-पिए खड़ी रह गईं। डुप्लीकेट चाबी रहने पर भी किसी को ताला खोलने की हिम्मत नहीं हुई। सारी रात साहब सोफे पर सोए हैं, और रत्ना बेबी कमरे में बन्द रही है, यह समाचार देखते-ही-देखते पूरी पुलिस लाइन में फैल गया।

दूसरे दिन ताला खोला तो रामेश्वरी ने देखा, गाउन डाले रत्ना उदास दृष्टि से खिड़की के बाहर देख रही है। शायद वह समझ गई थी कि दुर्वासा-से बाप ने बांस ही काटकर बहा दिया है, जिससे वंशी कभी बज ही न पाए। उसका अनुमान ठीक था। अरुण मल्होत्रा जिस बरसाती को किराये पर लेकर पिछले महीनों से रह रहा था, और फिल्म इंस्टिट्यूट से छुट्टियों में आकर इन दिनों भी जहां रह रहा था, वह खाली थी। मकान मालिक ने बताया कि वह किराया चुका, सब सामान लेकर कहीं चला गया है। कह गया है कि उसके कुछ पुलिस मित्रों ने उसके लिए नया मकान ढूंढ़ दिया है, वहीं रहेगा।

रत्ना उसे ढूंढने कहां-कहां नहीं भटकी ! उसके मित्रों के पास गई, उसकी एक ममेरी बहन पटेल नगर में रहती थी, वहां भी गई, पर अरुण का कुछ पता नहीं लगा। सात-आठ दिनों में ही रत्ना का दमकता चेहरा श्रीहीन हो गया था। न वह ठीक से खा-पी ही रही थी, न किसी से बोल ही रही थी, एक दिन वह दुर्धर्ष पिता के सामने तनकर खड़ी हो गई थी, "डैडी, आप ही ने अरुण को इस शहर से भगाया है ना ?"

त्रिभुवननाथ निरुत्तर बैठे हाथ के नाखून काटते रहे।

"बताइए डैडी, क्यों किया आपने ऐसा ? क्या आप समझते हैं कि मैं उसे ढूंढ़ नहीं सकती ?"

नानी भयग्रस्त होकर भीतर चली गई। दादी जोर-जोर से माला जपने लगी। रामेश्वरी दुस्साहस देख थर-थर कांप उठी।

रत्ना इस बार धैर्य खो बैठी, "बोलते क्यों नहीं ? क्या आप सचमुच यही सोच रहे हैं कि मैं उससे मिल नहीं सकती ?" उसके होंठ व्यंग्यात्मक स्थिति में तिरछे हो गए।

"हां, तुम लाख सिर पटको, तुम अब उससे जीवन-भर

नहीं मिल सकतीं।"

एक भयावह आशंका से वह बौखला गई। लपककर उसने पिता के आयत स्कंध पकड़कर उन्हें झकझोर दिया, "आपने क्या किया है उसके साथ ? बताइए, बताइए मुझे।"

उद्धत पुत्री को धक्का देकर त्रिभुवननाथ अपने कमरे में चले गए और जोर से दरवाजा बन्द कर लिया।

"ठीक है डैडी, मैं भी आपसे ऐसा बदला लूंगी कि···" वह फिर एकदम टूट गई। वहीं मेज पर सिर रख फूट-फूटकर रोने लगी।

रामेश्वरी ने धीरे से उसकी कांपती पीठ पर हाथ धरा, "होश में आओ बेटी। बाहर राम सिंह खड़ा है। सुनेगा तो क्या कहेगा ? इतना मैं कह सकती हूं, तेरे डैडी कभी तेरा अनिष्ट नहीं करेंगे।" उसका इससे बड़ा अनिष्ट डैडी और क्या कर सकते थे ?

बड़ी रात तक त्रिभुवननाथ कमरे से बाहर नहीं निकले। रत्ना को नानी जबरदस्ती अपने कमरे में खींच ले गई। उस रात पूरा घर भूखा ही सो गया। लग रहा था, अभी-अभी घर से किसी की अर्थी उठकर गई है। दूसरे ही दिन से रत्ना में आश्चर्यजनक परिवर्तन देख, रामेश्वरी ही नहीं, उसकी दादी, नानी, नौकर-चाकर सब सहम गए थे। लड़की को जैसे पिता के दिए गए एक ही बिजली के झटके ने सुन्न कर दिया था। न वह किसी से बोलती, न कहीं जाती। रामेश्वरी नहाने को कहतीं तो नहा लेती, नानी थाली लगाकर कमरे में भेज देती, तो बिना मीन-मेख निकाले, सिर झुकाए खा लेती। पहले जरा-सा मसाले भूंजने या दाल बघारने में चूक रह जाती तो वह घर-भर को डांट-डपटकर रख देती थी। घर-भर के नौकर बेबी से थर-थर कांपते थे। मेम साहब गऊ थीं और दोनों बूढ़ियों को पूछता ही

कौन था ? उसी रत्ता को जैसे कालिया नाग सूंघ गया था। दबंग पुत्री से ऐसे विनम्र व्यवहार की त्रिभुवननाथ को भी आशा नहीं थी, वे तो सोच रहे थे, मौका पाते ही लड़की फिर भाग जाएगी। यद्यपि उसी दिन से पिता-पुत्री में बोल-चाल बन्द थी पर त्रिभुवननाथ कनखियों से सब कुछ देख रहे थे। फिर पुलिस के महकमे में आते ही तो विधाता आने वाले की पीठ में भी एक जोड़ा आंखें बैठा देता है। वे जान गए थे कि यह अपराधी की अफसर को विश्वास पात्र बना, मौका पाते ही निकल भागने वाली ओढ़ी गई नकली विनम्रता नहीं है ; [illegible]दार लड़की अनुशासन के पहले ही चाबुक की मार से राह पर आ गई है। धीरे-धीरे उन्होंने अनुशासन की लगाम स्वयं [illegible] कर दी। पर फिर भी वे उसकी ओर से एकदम निश्चिंत नहीं हो पा रहे थे। उसकी अस्वाभाविक विनम्रता उन्हें बीच-बीच में आशंकित करती जा रही थी। उनका जीवन ही घाघ अपराधियों को सूंघते-परखते बीता था। जमीन पर दृष्टि गड़ाए, धीमे स्वर में बोलते अनेक अपराधियों को अपने पुलिस प्रहरियों की बन्दूक छीन उनके सिर पर उसका कुन्दा मार हथकड़ी-बेड़ी सहित घने जंगलों में विलीन होते वे देख चुके थे। उनकी यह दृढ़ धारणा थी कि अपराधी हमेशा अपराधी ही रहता है। पुत्री की वह अस्वाभाविक चुप्पी उन्हें तेज आंधी आने से पूर्व की सूई-टपक सन्नाटे-सी सहमाने लगी थी।

किंतु फिर धीरे-धीरे सहसा आपादमस्तक बदल गई पुत्री का संयमित आचरण उन्हें आश्वस्त कर गया। यहां तक कि एक दिन उन्होंने खाने की मेज पर उसके लिए आए एक भव्य विवाह प्रस्ताव का चुग्गा भी बिखेर दिया और वह गर्दन झुकाकर नि:शब्द उस चुग्गे को चुगने लगी। प्रस्ताव सुन मां की ओर देख मंद स्मित बिखेरती पुत्री के मौनं सम्मति लक्षणम् को उनकी

पुलिस की पैनी दृष्टि ने बांच लिया। अब तो । पुत्री के सामने दिन-रात भावी जामाता की प्रशंसा के पुल बांधने लगे—अहमदाबाद में एम० बी० ए० किया है, अभी तो बम्बई के सिटी बैंक में है पर अब सुना, लंदन में पोस्टिंग हो रही है, उसकी नौकरी क्या हमारी जैसी तीन कौड़ी की सरकारी नौकरी है! पांच हजार तो तनख्वाह है। उस पर बंगले के पर्दे से लेकर, बच्चों की शिक्षा, यूनिफार्म, कटलरी, फर्नीचर सब बैंक देता है। ऊपर से शोफर ड्रिवेन कार।

रत्ना सिर झुकाए सुनती रही। फिर त्रिभुवननाथ ने बड़े चातुर्य से प्रस्ताव का दुर्बल पक्ष संभाल लिया, "हां, दम देखने में जरा…"

"क्या?" रामेश्वरी ने ही पूछ लिया था, "काला है क्या? क्यों जी, कैसा कश्मीरी है?"

"अरे, काला-वाला नहीं, जरा सावला है। असल में लड़के के पिता ने प्रेम विवाह किया था। मां केरल की है। नाक-नक्श तीखा है, फिर हमारे रत्ना के रंग के सामने तो कैसा भी निखालिस कश्मीरी हो, वह भी पानी भरे।"

एक दिन सिटी बैंक का बहुचर्चित अफसर स्वयं आकर उपस्थित हो गया। रामेश्वरी ने देखा तो भीतर जाकर एकांत में आंसू पोंछ आई—कहां उसकी देवांगना-सी पुत्री और कहां यह रावण का नाती। काला-स्याह चेहरा, पकौड़ी-सी नाक—लगता था, विधाता ने चेहरे पर चिपकाने से पहले बीच से पकड़ किसी शैतान बच्चे के कान की भांति बेरहमी से ऊपर को ऐंठ दी थी, वीभत्स, मोटे हब्शी-से अधर और परस्पर जुड़ी सघन भौंहें, उसपर कानों से निकले बालों के गुच्छे देख लगता था, कोई कमानिया कीड़े का जोड़ा ही कानों में घुसकर बैठ गया है। किंतु लड़के की सारी खूबसूरती विधाता ने उसकी जीभ में घोल-

कर रख दी थी। मिनटों में उस अल्पभाषी परिवार के सदस्यों को उसने अपनी मुट्ठी में बांध लिया था। कैसे-कैसे किस्से और चुटकुलों का खजाना था उसके पास! एक-के-बाद-एक किस्से सुनाता, वह भावी सास-ससुर को गुदगुदाता चला जा रहा था, एक रत्ना ही चुप थी।

त्रिभुवननाथ बार-बार आशंकित हो चुप बैठी पुत्री को देख रहे थे। तब क्या उसने उनके ढूंढ़कर लाए गए भावी जामाता को नापास कर दिया था? उन्होंने कई बार चेष्टा भी की कि सास, मां और पत्नी को किसी बहाने भीतर खींच ले जाएं और दोनों को कुछ देकर एकांत दे दें, पर पट्ठे ने दोनों बुढ़ियों को बातों के ऐसे लच्छे में बांध लिया था कि तीनों उठने का नाम ही नहीं ले रही थीं। कौन-से विषय में किसकी रुचि है, उस अद्भुत अतिथि ने मिनटों में भांप लिया था और प्रत्येक मेजबान के सामने वह उसी की रुचि के व्यंजनों की दक्ष परिवेशना करता चला जा रहा था। कैसा ज्ञान था उसका! श्वसुर और कान्वेंट शिक्षिता सास के साथ त्रुटिहीन अंग्रेजी में धड़ल्ले से संभाषण, ननिया-ददिया सास के साथ संस्कृतनिष्ठ हिंदी में शास्त्र-पुराणों के आख्यानों का विवरण। बीच-बीच में, रत्ना की ओर फेंके जा रहे लुके-छिपे बुद्धि-प्रदीप्त चितवन के शरसंधान को भी वे पकड़ चुके थे। स्पष्ट था कि उनकी रूपवती पुत्री को देखकर बेचारा चारों खाने चित पड़ा है।

अचानक वह त्रिभुवननाथ की ओर मुड़ा, "मैंने सुना है, आप नियमित रूप से योगाभ्यास करते हैं सर?"

त्रिभुवननाथ चौंक पड़े। यह कैसे जान गया?

"एक बात कहूं सर, मैं भी पिछले दस सालों से योगाभ्यास करता आ रहा हूं—आप बुरा न मानें, तो कहूं।"

"हां-हां, कहो।"

"योगाभ्यास बड़ी सावधानी से करना चाहिए, मेरा मतलब किसी दक्ष गुरु के निर्देशन में। मुझे सौभाग्य से, एक ऐसे ही गुरु मिल गए थे। उनका कहना था कि गलत ढंग से किया गया प्राणायाम भी प्राणलेवा हो सकता है। पुस्तक पढ़कर कभी प्राणायाम न करें।"

त्रिभुवननाथ जीवन-भर करपृष्ठ पर मानव स्वभाव का घृत लगा, सूंघते-सूंघते, असली-नकली घी को पहचानने की कला में पारंगत हो चुके थे। अनजाने ही एक मुसकान उनकी मूछों को छू गई। उन्हें करपृष्ठ पर मले गए उस घी में सहसा असली घी की स्पष्ट सुगंध आने लगी थी।

"हां सर," फिर देखते-ही-देखते वह बिजली की गति से कुर्सी से उछलकर, जमीन पर पद्मासन लगाकर बैठ गया।

"देखिए सर, ऐसे," उसने दाहिने अंगुष्ठ से अपना दाहिना प्रशस्त नथुना मूंद लिया, "योगी न अधिक ऊंचे आसन पर बैठे, न अधिक नीचे। अपने पांवों को उत्तान करके, दोनों जाघों पर रख, बायीं हथेली दाहिने पांव पर, दायों को उत्तान कर, मुख को थोड़ा ऊपर उठा, शरीर को छाती से ऐसे मिला, आखें बन्द कर, रज-तम को त्याग, दतपंक्ति को पृथक् रख जिह्वा तालू से साध, शरीर स्थिर रख, २६ मात्राओं वाला प्राणायाम करना चाहिए, देवल का कथन है सर—कि शरीर, इन्द्रिया, मन, बुद्धि एवं आत्मा का निरोध करना ही धारणा है।" त्रिभुवननाथ का उत्फुल्ल हृदय गुलाटियां खाने लगा। पुलिस विभाग के लिए अति उपयुक्त रत्न सिद्ध होगा उनका यह वाचाल भावी जामाता।

उचककर वह फिर कुर्सी पर बैठ गया। रत्ना की मां, दादी, नानी मुग्ध होकर उसे आखों-ही-आंखों में पी रही थीं। सहसा उसकी मोटी नाक, स्याह रंग, बूटे-सा कद उसकी विद्वत्ता-

पूर्ण धाराप्रवाह वाक्यधारा में बह गए थे। उनके सामने बैठा था एक तरुण, वल्कलधारी, योगप्रवीण, धर्मनिष्ठ संस्कारी बालयोगी।

"मैं तो आपसे कहूंगा सर, आप आर्थर आसबर्न की 'रमण महर्षि एंड द पाथ आफ सेल्फनालेज' अवश्य पढ़ें। खास-कर पुलिस महकमे के प्रत्येक अफसर को यह पुस्तक पढ़नी चाहिए।" किन्तु जहां अपने मुग्ध श्रोताओं की प्रशंसापूर्ण मुख-मुद्रा देख वह उल्लसित हो रहा था, वहीं पर निर्विकार, चेहरा लटकाए बैठी भावी पत्नी की व्यंग्यात्मक मुसकान उसे कुंठा में डुबो रही थी।

'क्या इतनी बातों का कुछ भी असर नहीं हुआ इस लड़की पर? ठीक है, एक बार फेरे फिरकर आ तो जाए मेरे घर।' मन-ही-मन वह अपने आशंकित चित्त को स्वयं दिलासा देने लगा, 'भुला न दूं सब नाच-गाना इस नटिनी का, तो मेरा नाम भी ब्रजकुमार दर नहीं।'

उसके बाद तो वह नित्य ही वहां आने लगा, आता तो पीछे-पीछे अर्दली टोकरियों में भर-भरकर मेवा, मिष्टान्न, फूलों के गुलदस्ते साथ चला आता।

इतने ही दिनों में वह जान गया था कि रत्ना की नानी को मलाई के पान प्रिय हैं और दादी नमकीन काजू ठूगना पसंद करती हैं। सास, जिन्हें वह अब बड़ी अंतरंगता से 'खुशदामन' कहकर छेड़ने लगा था, साल्टेड आलमंड्स पसन्द करती हैं, और ससुर की पसन्द और उसकी पसन्द तो एकदम ही एक थी— शिवाज रीगल की तीन-तीन मीटर लम्बी बोतलें, जिन्हें फैंक-फुर्त से उसके चाचा उसके लिए भेजते रहते थे।

उपहारों की शिलावृष्टि जब प्रायः प्रत्येक दिन ही तड़ातड़ बरसने लगी, तब त्रिभुवननाथ ने रत्ना से एक दिन कहा, "बेटी,

देखो, लड़का रोज सैकड़ों रुपये खर्च कर रहा है। अगर तुम्हारा इरादा कुछ और है, तो उससे हमारा इतने उपहार लेना ठीक नहीं लगता। कल उसके मामा ने भी फोन किया था। तुम तो जानती हो, उसके मां-बाप नहीं हैं, ननिहाल में ही पला है। मामा ही उसके सब कुछ हैं, मुझे उन्हें उत्तर देना ही होगा। तुम कहो तो 'हां' कर दूं।" उनका धड़कता कलेजा बार-बार मुंह को आ रहा था। कहीं जिद्दी छोकरी ने 'ना' कर दिया तब ?

"आप 'हां' कर दीजिए, यही तो चाहते हैं न आप सब ?" पहली बार उसने अपनी बड़ी-बड़ी आंखों की निर्भीक दृष्टि पिता के चेहरे पर निबद्ध की।

त्रिभुवननाथ ने देखा—वे आंखें क्रोध, विवशता और प्रतिशोध की आग से दहकते अंगारे-सी दहक रही थीं। यह कैसी 'हां' थी उसकी ? इससे तो साफ 'ना' ही कर दिया होता लड़की ने। एक क्षण को उनकी अंतरात्मा पश्चात्ताप से विगलित हो उठी। फिर दूसरे ही क्षण पिता के कर्तव्यबोध ने उन्हें सचेत कर दिया।

'ठीक किया तुमने त्रिभुवननाथ; वही किया जो एक समझदार बाप को करना चाहिए। वही किया जो कभी तुम्हारे समझदार बाप ने तुम्हारे साथ किया था। जरा सोचो तो, तुम्हारे बगल में यदि आज बेनजीर होती तो क्या तुम आज इस ऊंचे ओहदे पर होते ?'

बेनजीर की स्मृति इतने वर्षों बाद भी पुलिस के कुत्तों की भांति उनका पीछा करती चली आ रही थी। जवानी का नया जोश और पुलिस की नयी-नयी नौकरी। अपराध जगत् को आमूल विध्वंस करने की नित्य नवीन योजना में वे तब दिन-रात डूबे रहते। सुना था कि आगरे की बेनजीर के कोठे पर शहर के सबसे बदनाम जुआरियों का अड्डा जमता है। वहीं

उनकी पहली नियुक्ति हुई थी। अनिद्य रूपवती बेनजीर के रूप, नृत्य और कंठ के जादू से जूझने' आज तक जिस पुलिस अफसर ने डुबकी लगाई, वही डूबकर रह गया; यह वे सुन चुके थे। ऐसी मुट्ठी गर्म कर देती थी बेनजीर कि कोई उसके विरुद्ध फिर चू भी नहीं कर सकता था। उसी से जूझने वेश बदलकर ही पहुँचते थे त्रिभुवननाथ। जुए का कुख्यात अड्डा तो उन्होंने उजाड़ दिया, किन्तु स्वयं भी उजड़ गए। कैसा कंठ था और कैसा रूप! फिर एक दिन बेनजीर के दलाल ने ही त्रिभुवननाथ के पिता से चुगली खाई थी। आग उगलते पिता ने एक बार पुत्र को चेतावनी दी, उसकी बदली करा स्वेच्छा से उसे डिपुटेशन का देश निकला देकर अडमान भेज दिया, पर बेनजीर छिप-छिपकर वहीं जाने लगी। तब हारकर पिता ने पुलिस का ब्रह्मास्त्र छोड़ा था। रात किसी मुजरे से लौट रही बेनजीर के चन्द्रमुख पर गुंडों से एसिड बल्ब फिंकवा, देखते-ही-देखते उसे कुष्टरोगिणी-सा बीभत्स बना दिया था। दूसरे ही महीने त्रिभुवननाथ का विवाह हो गया और वह स्वार्थी लंपट प्रणयी किसी बदनाम बस्ती में जिंदा लाश बनी अपनी उस अंधी प्रेमिका को देखने एक बार भी नहीं गया, जिसने उसके प्रेम का ऐसा मूल्य चुकाया था।

आज उसने भी तो पिता की वही दुर्धर्ष दडनीय दंडनीति अपनाई थी। अन्तर इतना ही था कि जहाँ पिता ने एक अनुभवी पुलिस अफसर की भाँति बिना प्राण लिए ही अपराधी को निष्प्राण कर दिया था, वहाँ मूर्ख पुत्र ने अपराधी के प्राण लेने

पड़े थे। किंतु दोष उसका नहीं था, उसने तो बार-बार अपने जल्लादों को हिदायत दी थी कि देखो, जरा समझ से काम लेना, ऐसा हो कि सांप भी मर जाए और लाठी भी न टूटे। पर उन बेचारों का भी क्या दोष ! कहने लगे, "सरकार, हमें क्या पता था कि वह लौंडियों से भी गया-बीता निकलेगा ! एक ही घूसे में टें बोल गया। वह तो बाद में पता चला कि दिल का मरीज था, सुना र्‍युमैटिक हार्ट था। सर, आप चिन्ता न करें, लाश को भिंड-मुरैना के ऐसे घने बीहड़ में फिकवा दिया है हमने कि यमदूत भी आसानी से नहीं ढूंढ पाएंगे।" रात को उनकी अंतरात्मा फिर जले घाव पर नमक छिड़कने लगी थी, 'त्रिभुवन नाथ, तुम्हारी पुत्री सब जान गई है, तुम्हें तुम्हारे बदनाम पेशे के अनुभवों ने घाघ बनाया है, उसे विधाता ने पुलिस के शिकारी कुत्तों की-सी विलक्षण घ्राण शक्ति दी है। वह तुम्हें तुम्हारे कुकृत्य के लिए कभी क्षमा नहीं करेगी। उससे सावधान रहना त्रिभुवन-नाथ ! उसने न तुम्हें माफ किया है, न कभी करेगी।'

पर त्रिभुवननाथ जानते थे कि उनकी अंतरात्मा लाख बड़बड़ाए, रत्ना कभी नहीं जान पाएगी कि उन्होंने क्या किया है ? उन्होंने कभी कच्ची गोलियां नहीं खेली हैं। अनायास ही उनका हाथ अपनी ऐंठी मूंछों पर चला गया था। उसी के दूसरे दिन मिठाई-फलों की टोकरियों से लदे पति-पत्नी, ब्रजकुमार की ननिहाल जाकर बात पक्की कर आए थे। दूसरे ही महीने उन्होंने कन्यादान से भी मुक्ति पा ली। लोगों का कहना था कि ऐसा विवाह, अब बहुत कम देखने को मिलता है। ठीक भी तो था, नकद लेन-देन के बाद बाहरी चमक-दमक के लिए अब पैसा ही किसके पास रह जाता है? पर त्रिभुवननाथ ने दिल खोलकर रख दिया था। जैसी ही सजावट थी, वैसा ही विवाह-भोज। कैसे-कैसे जोड़े और कैसे ठोस गहने ! जयमाल के दिन तो लोग आंखें

फाड़-फाड़कर वधू को ही देखते रह गए। देखते भी कैसे नहीं ! उसका पूर्वाभ्यास किया गया पदविन्यास, सहस्र-सहस्र दर्शकों को एक साथ बांध लेता था, उसके लिए ,मुट्ठी-भर अतिथियों को बांध लेना कौन-सी बड़ी बात थी ! कैमरे खटाखट खटक रहे थे। बी० बी० सी० की कोई दूरदर्शन यूनिट भारत आई हुई थी। वे किसी भारतीय पारंपरिक विवाह की छवि कैमरे में उतारना चाह रहे थे। उन्हें इससे दर्शनीय छवि और कहां जुट सकती थी—लग रहा था कि किसी फिल्म की शूटिंग ही चल रही है। वर-वधू की बेमेल जोड़ी को देख, निरन्तर ईर्ष्यादग्ध पुरुषों की फुसफुसाहट कानों में बज रही थी।

हाथ में जयमाल लिए, धीरे-धीरे गौर युगल चरण धरती वधू अपने अक्षम, अरूपवान दूल्हे की ओर बढ़ रही थी। जान-बूझकर ही शायद ब्रजकुमार ने अपना अनाकर्षक चेहरा, सेहरे की चिलमन से ढक लिया था। तसवीर खींचने वालों ने बार-बार उस क्षण को आग्रह कर विलंबित करवाया।

माला डालने के पूर्व कई बार पुत्री को ठिठकना पड़ा तो त्रिभुवननाथ अधैर्य से बावले हो गए, "अब बस भी करो भाई, कैमरे बन्द करो, जयमाल डालने दो, प्लीज !"

उन्हें जैसे मन-ही-मन कोई अज्ञात आशंका कंपा रही थी; कहीं ऐसा न हो कि जयमाल पड़ते-पड़ते रह जाए !

किन्तु उनकी आशंका निर्मूल रही। जयमाल भी पड़ी और पितृगृह की लगभग आधी संपत्ति समेटकर कन्या विदा भी हो गई। 'हनीमून के लिए हम बेटी-दामाद को रोम भेजेंगे,' वे अपनी पत्नी से बहुत पहले ही कह चुके थे, 'मैं उन कंजूस बापों में नहीं हूं कि एक अदना-सा चेक बेटी-दामाद को थमाकर कहूं कि जाओ बेटा, कुल्लू-मनाली या नैनीताल घूम आओ।'

किन्तु जिद्दी बेटी न उनका चेक बिना किसी कैफियत के

लौटा दिया था।

"थैंक्स डैडी, इसे आप ही रख लें, मैं हनीमून मनाने में विश्वास नहीं करती। जो मनाना होगा, घर पर ही मना लेंगे।" और कैसा हनीमून मनाया था करमजली ने ! विवाह को महीना-भर ही बीता था कि बम्बई से फोन आया था—व्रजकुमार ने आत्महत्या कर ली है। आप फौरन चले आइए।

फोन व्रजकुमार के मामा का था, इसी से किसी सिरफिरे की या शत्रु की कुटिल-क्रूर परिहास रसिकता का भी प्रश्न नहीं उठता था। और फिर ऐसा मजाक भला कौन कर सकता था !

शादी की बंदनवार अभी भी द्वार पर लगी थी। रामेश्वरी भंडार मे शादी की बची-खुची रसद सजो रही थी। अचानक बदहवास त्रिभुवननाथ पत्नी के पीछे आकर खड़े हो गए थे।

"क्या बात है ? आप इतने घबराए-से क्यों लग रहे है ?" रामेश्वरी चीनी का अधखुला बोरा छोड़कर उठ गई थी।

"सर्वनाश हो गया रामू, तुम जल्दी मे तैयार हो जाओ। बम्बई से फोन आया है। व्रज ने आत्महत्या कर ली है।"

रामेश्वरी वहीं पर सिर थामकर बैठ गई थी।

"देखो, हिम्मत से काम लो रामू, पता नहीं क्या बात हुई ? कहीं रत्ना से कुछ झगड़ा-फसाद न हुआ हो। लड़की बेकसूर होने पर भी फंसाई जा सकती है। तुम तो जानती हो, हम व्रज को मारुति देने का वायदा करके भी नहीं दे पाए, इसी से उसके मामा हमसे नाराज थे। इसी से कह रहा हूं, इसी फ्लाइट से चलना होगा। रत्ना एकदम अकेली है।" और फिर मां, सास से बिना कुछ बताए दोनों ही पहली फ्लाइट पकड़ बम्बई चले गए थे।

कुछ न बताए जाने पर भी दोनों बूढ़ियां खूंटे से बंधी गायों की ही भांति जान गई थी कि कुछ अघटित होने वाली घटना घट गई है और जान-बूझकर ही उनसे छिपाई जा रही है। दोनों बेहद चटोरी थीं— एक ही वक्त अन्न खाने पर भी दिन डूबते ही अपने लिए नाना फलाहारी व्यंजनों की तैयारी में जुट जाती थीं। कभी खोए की बरफी, कभी मखाने की मेवे डली खीर और कभी शकरकंद का हलवा, पर जब से बेटे-बहू गए थे, दोनों ने अन्न का दाना भी मुंह में नहीं लिया था।

"बहन, ऐसा भला कौन-सा फोन था जो ऐसे बदहवास भागना पड़ा ?" त्रिभुवननाथ की मां दोनों में अधिक दबंग थी।

"अब बताओ समधिन," रामेश्वरी की मां बहुत कम बोलती थी पर जो भी कहती, बहुत सोच-समझकर ही कहती थी, "पहली बार लड़की के ससुराल जा रहे हो, ऐसे खाली हाथ भला कोई जाता है ? न मेवे, न मिठाई, न फल, न कपड़े। फिर मैंने कल बड़ा बुरा सपना भी देखा है। मैंने देखा, ब्रज नंगा होकर नहा रहा है— सिर मुंडा है और सामने चार बांस धरे हैं।"

"हाय राम, मैं तो भूल ही गई थी," दादी बोली, "कल रात-भर मेरी खिड़की के पास लगे पपीते के पेड़ पर उल्लू बोलता रहा, और दाहिनी आंख फड़क रही है कि रुकने का नाम ही नहीं लेती।"

त्रिभुवननाथ पत्नी सहित पहुंचे तो देखा, दहेज में दिए गए उपहारों के क्रेट भी बिना खुले ज्यों-के-त्यों धरे थे।

लाश पोस्टमार्टम के लिए ले जाई जा चुकी थी। एक कुर्सी पर गुमसुम-से व्रज के मामा बैठे थे। दूसरी कुर्सी पर व्रज की मां बैठी थी—रो-रोकर उनकी आंखें गुड़हल-सी लाल हो रही थीं। पूरा कमरा लोगों से भरा था, जिनमें से किसी को भी त्रिभुवननाथ नहीं जानते थे। रत्ना कहीं नहीं थी।

बिना कुछ कहे त्रिभुवननाथ धप्प से तख्त पर बैठ गए।

रामेश्वरी नहीं बैठी, उसकी आखें किसे ढूंढ रही हैं देख, एक मराठी महिला उसके निकट आकर फुसफुसाईं, "बेडरूम में पड़ी है। चाय भी नहीं पी है कल से। टुकुर-टुकुर छत को देख रही है बेचारी लड़की—हाय, अभी उम्र ही क्या है! पता नहीं, दर साहब ऐसा काहे को किए?"

सचमुच ही लड़की निःचेष्ट पड़ी छत को देख रही थी। बाल बिखरे, सुहाग ज्यों-का-त्यों, मंगलसूत्र झकझक चमकता गहरी सांसों के साथ ऊपर-नीचे उठ गिर रहा था। ललाट की बिंदी हो शायद मिटाने की चेष्टा में ूरे गोरे ललाट को सूर्यास्त की-सी लालिमा में रंग गई थी। "रत्ना!" रामेश्वरी उससे लिपटकर रोने लगी, "कैसे हो गया यह? क्या हो गया यह बेटी?"

रत्ना एक शब्द भी नहीं बोली, उसकी तन्वी देह जैसे धनुष-टंकार के आघात में ऐंठकर लकड़ी हो गई थी।

"बेटी," रामेश्वरी ने लपककर द्वार बन्द कर सिटकनी

धका दी। वह पुत्री के साथ कुछ क्षणों का एकदम एकांत चाहती थी, पति भी उस क्षण आ जाते तो शायद वह उन्हें भी बाहर धकेल देती। "बता बेटी, मैं तेरी मां हूं—कहीं तुझसे झगड़ा तो नहीं हुआ ?"

एक निर्मम झटके से मां के आलिंगन से अपने को मुक्त कर रत्ना खिड़की के पास खड़ी हो गई। उतनी दूर से आई शोक-विह्वला मां की ओर उसने नजर उठाकर भी नहीं देखा।

रामेश्वरी न जाने कब तक बैठी रहीं। फिर ब्रज की मामी ही उसे अपने साथ बाहर ले गई। उन्होंने बताया कि पुलिस आकर उस पिस्तौल को भी ले गई थी, जिससे ब्रज ने अपने प्राण लिए थे, पोस्टमार्टम के बाद लाश वहीं से घाट ले जाएंगे। आप यदि मुंह देखना चाहें तो हमारे साथ चलें। रत्ना कहती है, वह नहीं जाएगी। पता नहीं कैसी पत्थरदिल लड़की है आपकी, एक आंसू भी जो बहाया हो !

"कैसी बातें कर रही हो जी !" ब्रज के मामा ने पत्नी को डपट दिया था, "आघात से जड़ हो गई है बेचारी। वैसे भी यह उसके लिए अच्छा नहीं है उसे रोना चाहिए…क्यों साहब, चलेंगे, आप ? पुलिस हमारे जाने पर ही बाडी हैंडओवर करेगी।"

"नहीं," त्रिभुवननाथ का पहली बार कंठस्वर भर्रा उठा था। जिसके महीना-भर पहले पैर पूजे थे, उसके निष्प्राण पैर देखने अब क्या जाएं !

आखिर क्यों भरी जवानी में अभागे ने अपने प्राण ले लिए ? कौन-सा दुःख था उसे, कौन-सी पीड़ा ?

पुलिस की समस्त औपचारिकताओं को बड़े धैर्य से निभा त्रिभुवननाथ पत्नी और पुत्री को लेकर घर लौट आए। इसमें अब कोई संदेह नहीं रहा था कि ब्रज ने आत्महत्या ही की

थी।

पिस्तौल पर लगे अंगुलियों के निशान हूबहू उसकी अंगुलियों के निशानों से मिल गए थे। दोनों में कभी कोई खटपट नहीं हुई, इसके चश्मदीद गवाह थे स्वयं व्रज के मित्र, प्रतिवेशी, सहकर्मी जिन्हें उसने रत्ना के साथ, मृत्यु के दिन ही एक आला सहभोज दिया था। पार्टी बड़ी रात तक चलती रही थी। अतिथियों के आग्रह पर रत्ना ने नृत्य प्रस्तुत कर भूरि-भूरि प्रशंसा भी बटोरी थी। आधी रात के बाद ही दोनों नाना उपहारों-गजरों से लदे-फंदे घर लौटे थे। भोर होने से कुछ पहले ही रत्ना की हृदयभेदी चीख से रामस्वामी चौंककर जग गए थे। उन्होंने सबसे पहले घंटी बजाई थी। नौकर के साथ वे ही उस रहस्यमय खून के पहले चश्मदीद गवाह बने। उन्होंने देखा, व्रज की छाती खून से तर है, उसका आधा धड़ पलंग से नीचे लटका है, कोने में खड़ी रत्ना फटी-फटी आंखों से उसे देख रही है।

"हमें देखते ही वह बेहोश होकर गिर पड़ी," रामस्वामी ने त्रिभुवननाथ को बताया, "मैंने ही पुलिस को फोन किया। देखते-ही-देखते भीड़ जुट गई—वह बहुत लोकप्रिय अफसर था। कितना खुश था अपनी शादी के बाद! बोलता था, हम बहुत लकी हैं रामस्वामी। ऐसा वाइफ मिला है हमको⋯बस, एक ही दोष था—इधर बोतल पीने लगा था। हमको तो लगता है, नशे ही में अपना जान लिया है उसने।" त्रिभुवननाथ को उस अनजान शहर की अनचीन्ही बिरादरी ने दुर्भाग्य की उस मनहूस घड़ी में छाती में लगा लिया था। एक तो वे स्वयं पुलिस के सर्वोच्च अधिकारी थे, इसी से उस परदेश में भी उनकी बिरादरी ने उन्हें अनेक अवांछित औपचारिकताओं के दुर्दन्त हाथ पकड़कर लंघा दिए थे। फिर एक बात और भी, व्रज की आत्महत्या का मामला, एकदम साफ था। फिंगर प्रिंट्स अपना पुष्ट

प्रमाण दे ही चुके थे, उस पर ब्रज के पुराने नौकर माधो ने पुलिस को एक और महत्त्वपूर्ण सूत्र थमा आत्महत्या का रहस्य एकदम ही सुलझा दिया था।

हुआ यह था कि योग और वेद-वेदांत पर अधिकारपूर्ण चर्चा करने वाला ब्रज कुमार वर्षों पूर्व ही जुए और शराब की लत का शिकार हो चुका था। ननिहाल मे था तो प्रायः ही फीस के लिए दिए गए रुपये दाव मे लगा आता था, स्वयं उसके मामा ने इसकी पुष्टि की थी। यह ठीक था कि शादी के कुछ दिन पहले उसने जुआ और शराब, दोनों का त्याग कर दिया था पर इधर ससुरगृह मे मिली अगाध दहेज संपत्ति ने उसे फिर उकसा दिया। वह फिर जुआ खेलने लगा। शराब के पीछे भी उसकी हृतदर्प, हीनवीर्य कुंठा ही बार-बार मुखर हो उठती थी, विवाह होकर भी अभागा कुआरा ही रह गया था। रत्ना ने अब तक उसे कधे पर हाथ भी नही रखने दिया था। सोने को वह उसी के कमरे में सोती थी, किन्तु आज तक उसने विवाह मे मि. अपने रोजवुड के पलंग की पाटी पर पैर भी नही धरा था, सारी रात वह उकड़ूं होकर, कोने मे धरी आराम कुर्सी पर ही काट देती थी।

"साहब इधर शादी के बाद फिर जुआ खेलने लगे थे," माधो ने पुलिस को बताया, "मेम साहब बहुत सीधी हैं। उन्हें कभी टोकती ही नही थी, न उनके साथ क्लब ही जाती। दिन-भर अपने कमरे मे पड़ी किताबें ही पढती रहती। उस दिन पार्टी से साहब लोग लौटे तो रात का एक बजा था। साहब के साथ

उनके तीन-चार दोस्त भी आ गए थे। मेम साहब तो सोने चली गईं पर साहब लोग ताश खेलने लगे। मैं बीच-बीच में आकर देख रहा था कि साहब बराबर हारते चले जा रहे हैं। बार-बार चेकबुक निकालते और दांव लगाते। देखते-ही-देखते पूरी चेक-बुक खाली हो गई तो साहब ने दूर पटक दी और बोतल मुंह से लगा ली। मुझसे नहीं रहा गया सरकार। मैं हाथ जोड़कर उनके दोस्तों के सामने खड़ा हो गया। मैंने कहा, 'हुजूर, अब तो आप साहब को नंगा कर चुके हैं। अब मेहरबानी कर आप लोग अपने घर जाइए।'

"और किसी तरह साहब को हाथ पकड़कर मैं उनके कमरे तक ले गया और पलंग पर सुला आया। मेम साहब शायद इंतजार करती कुर्सी पर ही गहरी नींद में सो गई थीं। मैंने उन्हें जानबूझकर ही नहीं जगाया— साहब की जैसी हालत थी, उसे देखकर बेचारी फिर क्या सो पातीं? मेरी आंखें लगी ही थीं कि मेम साहब की चीख सुनकर मैं भागा। अंधेरे में ठोकर खाकर गिर पड़ा। तभी घंटी बजी। द्वार खोला और देखा, रामस्वामी साहब खड़े हैं। बोले, 'क्या बात है माधो, तुम्हारा मेम साहब क्यों चीखा?'

"हम दोनों कमरे की ओर भागे, बस मत पूछो साहब, हम पर क्या बीती? व्रज साहब को हमने गोद में खिलाया था साहब।"

माधो के बताए व्रज के जुआरी मित्रों को ढूंढ़कर लाया गया। माधो की गवाही शत-प्रतिशत सही निकली। दहेज में मिले सवा लाख अभागा व्रज सवा घंटे में ही हारकर, भोर होने से पहले ही पथ का भिखारी बन गया था। परीक्षण ने उदरस्थ शराब की भी पुष्टि कर दी थी। हार के धक्के ने ही उसे स्वयं अपने प्राण लेने को उकसाया था, इसमें अब शक की गुंजाइश

नहीं रह गयी थी।

क्रेटों में बन्द पूरे सामान को ब्रज के मामा को थमा त्रिभुवन नाथ ने कहा, "आप यह सब ले जाएं, जब घर ही नहीं रहा तो रत्ना घर सजाने के सामान को लेकर क्या करेगी? फिर आपको हमसे शिकायत भी थी कि हम ब्रज को मारुति नहा दे पाए, अब हमारी ओर से यही पत्र-पुष्प स्वीकार करें।"

ब्रज के मामा कटकर रह गए, "क्यों शर्मिंदा करते हैं त्रिभुवननाथ जी, जब बेटा ही नहीं रहा, तो मैं इसका क्या करूं?"

"क्यों, बेटी तो है ना?" व्यंग्य से त्रिभुवननाथ के होंठ क्रूर स्मित में खिंच गए, "उसी को दहेज में दे दीजिएगा।" और फिर उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना वे पुत्री, पत्नी को लेकर तीर-से निकल गए थे। फिर कई दिनों तक मातमपुर्सी करने वालों का ताता लगा रहा। "अब मेरा यहां दम घुटने लगा है रामू। चलो, कहीं दूर चले जाएं। रत्ना भी मुरझा गई है। हवा बदलने से उसे राहत मिलेगी।"

बहुत दिनों के बाद उजड़े घर को बाहर जाने की तैयारी ने फिर संवार दिया। नानी ने ढेर सारा नाश्ता तैयार कर लिया। रामेश्वरी ने बन्द गरम कपड़ों को धूप दिखाई, सूटकेस निकाले, स्लीपिंग बैग झाड़े। तय हुआ था, सब बदरी-केदार की यात्रा पर जाएंगे। आकस्मिक मृत्यु के ताजे घाव पर अब उसी पावन तीर्थ का सुशीतल फाया सुशीतल ठंड पहुंचा सकता था।

रत्ना अभी भी अपने कमरे से बाहर नहीं निकली थी। तीर्थयात्रा के लिए न उसने हामी ही भरी थी, न साफ ना ही कर पाई थी। डरती-डरती रामेश्वरी ही एक दिन पहले जाकर पूछ आई थी, "कौन-सा कोट रखूं रत्ना, भूरा या काला?"

"जो तुम्हारे जी में आए," उत्तर का रूखा-सा थप्पड़ मार उसने फिर किताब में सिर झुका लिया था।

रात को रामेश्वरी खाने की थाली लेकर आई तो देखा, रत्ना निश्चेष्ट पड़ी है। चादर से मुंह ढांपकर मुर्दा-सी पड़ी पुत्री को देख वह कांप गई—कहीं कुछ खा-वा तो नहीं लिया अभागी ने? थाली मेज पर धर वह व्याकुल होकर उस पर झुक गई, "रत्ना···रत्ना!"

"क्या है ममी, क्यों चिल्ला रही हो?" झल्लाए स्वर में मां को झिड़क वह उठ बैठी।

"कुछ नहीं बेटी, मैं डर गई थी। तू ऐसी चुपचाप पड़ी थी कि··"

"तुमने सोचा, मैंने भी आत्महत्या कर ली और सती हो गई, क्यों?" कैसी निर्लज्ज हंसी थी उसकी!

"सती उसके लिए होते हैं ममी, जिसके लिए प्यार हो, जिसके बिना पत्नी जी न सके। मैं भला किस दुःख से आत्महत्या करूंगी? मैं तो अब बहुत सुखी हूं—बेहद सुखी!"

"कैसी बातें कर रही है तू, कोई सुनेगा तो क्या कहेगा?"

रत्ना खिलखिलाकर हंस उठी।

रामेश्वरी कांप गई। कैसी अस्वाभाविक हंसी थी यह—कहीं बहक तो नहीं गई लड़की! पति से कहना होगा, किसी मनोचिकित्सक को बुलाएं, तीर्थयात्रा जाए भाड़ में!

"तुम थाली ले जाओ ममी, मुझे भूख नहीं है। मेरी चिंता मत करो, मैं एकदम ठीक हूं। इतनी अच्छी तबीयत मेरी कभी नहीं रही।" रामेश्वरी ने सहसा देखा, आज तक जिस लड़की ने सुहाग नहीं उतारा था और जिसका सुहाग उतारने का उसकी दबंग दादी को भी साहस नहीं हुआ था—उसने अपने दोनों अटेरू स्वयं उतारकर मेज पर धर दिए थे। पुत्री की दोनों रिक्त

कलाइया देख रामेश्वरी की आंखें छलछला आईं। तब क्या आज उसने स्वय वैधव्य की विभीपिका को स्वीकार कर लिया था ?

"तू कल वक्त पर तैयार हो जाना बेटी, रिपोर्टिंग टाइम सात बजे हैं। सुबह पांच बजे घर से चलना होगा।"

ग्ला ने मा के आदेश का कोई समर्थन नहीं किया।

सुबह उसे जगाने त्रिभुवननाथ ही गए थे, 'तुमने मुझपर यह असीम कृपा की प्रभु' वे बहुत दिनों तक मन-ही-मन दोहराते रहे थे—उसकी वह चिट्ठी उसकी धर्मभीरु मा के हाथ मे पड़ी होती तो वह फिर उस धक्के से कभी उबर नही पाती। कमरे मे गए तो बाथरूम का दरवाजा खुला था। पलग पूर्ण कंटिनेंटल सज्जा मे संवारकर ढांप दिया गया था। अचानक उनकी नजर ड्रेसिंग टेबल पर धरे लिफाफे पर पड़ी। लिफाफे पर उन्हीं का नाम लिखा था। श्रीयुत त्रिभुवननाथ, आई० ए० एस०। क्या उन्हें जानबूझ कर ही जलाने वह अत का ओहदा ऐसे स्पष्ट कर गई थी ? जसे कह गई हो—लो त्रिभुवननाथ, अब झूलो इन तीन अक्षरो के झूले पर।

डैडी,

मेरा काम पूरा हो गया। मैं जा रही हूं। मैंने आपसे कहा था ना कि मैं ऐसा बदला लूगी कि बस।

मैंने बदला ले लिया। यदि मृत्यु के बाद आत्मा रहती है तो अरुण की आत्मा आज कितनी तृप्त हो गई होगी। आप लोग मुझे तीर्थयात्रा पर ले जाना चाहते थे ना ? लेकिन डैडी, आप

और मुझ जैसे अपराधियों को तो ससार का कोई तीर्थ अब शांति नही दे सकता। ब्रज ने आत्महत्या नहीं की, मैंने उसकी हत्या की है। वैसे एक लंपट, जुआरी, शराबी, कामातुर, नारी-लोलुप व्यक्ति से मेरी शादी कर, आपने मेरा काम बहुत हद तक आसान कर दिया था। मुझे मिली पूरी संपत्ति उसने बम्बई पहुंचते ही ज्वाइंट खाते में डाल दी थी। उस रात शराब के नशे में चूर होकर वह पूरी धनराशि जुए में हार गया। उस पर मैं सुन चुकी थी कि उसको एक पूर्व प्रेमिका भी है, उसी के बैंक की एक दो कौड़ी की कलूटी स्टेनो। मैं चार दिन पहले दोनों को फाइव स्टार होटल के कमरे में रंगे हाथों पकड़ चुकी थी। वह अब भी उसकी उपपत्नी थी। चार पांच दिन पहले अचानक ड्रेसिंग टेबल से गायब हो गई अपनी सीको घड़ी भी मैंने उसकी कलाई पर देख ली थी। उसी दिन से मेरा खून खौलने लगा था, चाहती तो दोनों को वहीं ठंडा कर सकती थी। अपने पर्स में रिवाल्वर लेकर ही गई थी मैं। पर मैं इतनी मूर्ख नहीं हूं। आखिर तुम्हारी बेटी हूं ना डैडी, तुम्हारे ऊंचे ओहदे का, नाम का, खानदान-पानदान का भी तो ध्यान रखना था मुझे।

किन्तु जो अपनी आंखों से देख लिया था, वह मेरी सबसे बड़ी पराजय थी। मेरे रूप की, मेरे यौवन की, मेरी प्रतिभा की पराजय। जब उस रात को माधो शराब में चूर ब्रज को पलंग पर सुला गया तो मैं गहरी नींद में नहीं, नींद का बहाना बनाए पड़ी थी। माधो सिंह गया तो मैंने देखा, मुंह से लार टपकाता मेरा घिनौना बदसूरत पति पलंग पर लेटा निर्लज्ज खर्राटे ले रहा था। उसकी उस रात की बदसूरती का मैं आपसे बयान नहीं कर सकती, वह मेरा पति नहीं, जैसे एक बनैला सुअर पड़ा था। मेरा अंग-प्रत्यंग घृणा से सिहर उठा। यह व्यक्ति मेरा पति था, कभी यह मेरी संतान का पिता भी बन सकता है!

आखिर कब तक बचा पाऊंगी मैं अपने अक्षत कौमार्य को! नहीं, मैंने अभी तक इसे अपनी देह का स्पर्श नहीं करने दिया— मैं ऐसा नहीं होने दूंगी। मैंने उसके सिरहाने से उसी की रिवाल्वर, चादर में लपेटकर थामी। वैसे ही चादर में लिपटी रिवाल्वर से कोने मे खड़ी होकर निशाना लेने लगी, फिर सहसा बुद्धि ने सचेत किया—तू कैसी पुलिस-दुहिता है री बावली? रॅंज का तो ध्यान रख । यह याद रख कि तेरे पति की हत्या नहीं की जा रही है, वह आत्महत्या कर रहा है। मैं एकदम पास आई और निशाना साध, मैंने ट्रिगर दबा दिया। आप ही ने तो मुझे इस अचूक निशानेबाजी में पारंगत बनाया था। याद है न, आपका वह श्योर शाट सब इंस्पेक्टर पांडे मुझे निशानेबाजी की कोचिंग देने नित्य कोठी पर आता था? मैं भला कैसे चूक सकती थी! वह तड़प भी नहीं पाया, फिर मैंने उसी धैर्य से, उसी चादर से मूठ पकड़े उन्हीं की पिस्तौल, उसके बायें हाथ के नीचे गिरा दी। आपको पता ही होगा, वह लेफ्ट हैंडर था। भला आप जैसे पुलिस अफसर की बेटी, कभी किसी अपराध की भूमिका संजोने में भूल कर सकती है? फिर आप तो जानते ही हैं, बचपन से ही मैं अगाथा क्रिस्टी को चाटती आई हूं। शर्लक-होम्स की 'आम्नीबस' आप ही ने मुझे मेरी सत्रहवीं वर्षगांठ पर उपहार मे दी थी। मेरे इन्हीं जासूस गुरुओं ने उस दिन रिवाल्वर सहित मेरी कलाई थाम ली थी।

न मैंने कोई प्रमाण रहने दिया, न गवाह । वे मूर्ख हैं जो कहते हैं कि खून बोलता है; बोलता अवश्य है पर कोठे में बुद्धि हो तो उसकी आवाज भी बड़ी आसानी से बन्द की जा सकती है। कोई भी कभी नहीं जान पाएगा डैडी, कि आपने क्या किया और आपकी बेटी ने क्या किया मैने बदला ले लिया है। अब आप मुझे ढूंढ़ने की कोई कोशिश न करें। मैंने आपसे पहले भी कहा

था कि मैं अब बच्ची नहीं हूं। अपना रास्ता खुद ढूंढ़ सकती हूं, ढूंढ़ लूंगी।

आपकी बेटी

रत्ना

एक पल को त्रिभुवननाथ की आंखों के आगे अंधेरा छा गया। उन्होंने स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि ब्रज की हत्या की गई थी—कैसा बदला ले गई थी लड़की !

क्या यह बेनज़ीर की आह थी जो आज इतने वर्षों बाद उनके अहं को मिट्टी में मिलाकर रख गई या वे स्वयं ही अपने अहं में खंडित होकर देखते-ही-देखते मिट्टी में मिल गए थे ?

एक बार उन्होंने हाथ की चिट्ठी को देखा, फिर टुकड़े-टुकड़े कर जेब में डाल ली। रद्दी की टोकरी में डालने में भी खतरा था। कहीं रामू ने टुकड़े देखकर, बेटी की लिखावट पहचान ली तो अनर्थ हो जाएगा। अपराधिनी पुत्री का कलंक भी उन्हें अपने कलंक के साथ, अब जीवन-भर नीलकंठ की भांति कंठ में धर घुटकना होगा।

रामू कभी नहीं जान पाएगी कि बेटी ने उनसे से बदला लिया !

तीन कहानियां

श्राप

आरम्भ मे ही स्पष्ट कर दूं—यह कहानी नही है। कल, मैंने उसे सपने मे न देखा होता तो शायद मेरी लेखनी, गतिशील भी न होती।

हठात् कल रात वह चुपचाप आकर,मेरे पायताने बैठ गई थी, उसी वधू वेश में, जिसमें उसे आज से दस वर्ष पूर्व, इसी फ्लैट में देखा था। न उसने कुछ कहा, न हिली, न डुली, फिर अपनी दोनो मेहंदी लगी गोरी हथेलियां, मेरे सामने फैलाकर वह फिक-से हस दी। मैं हड़बड़ाकर उठ बैठी, सपना टूट गया, किन्तु सपने का आतंक नही गया।

दस वर्ष पूर्व भी मैं इसी फ्लैट मे रहती थी। नीचे के फ्लैट की गृहस्वामिनी एक दिन अचानक मेरे पास एक छोटी-सा याचना लेकर उपस्थित हुई। उनकी बड़ी बहन एवं भगिनीपति अपनी पुत्री का विवाह करने उनके फ्लैट में आ रहे थे। क्या मैं उन्हें कुछ दिनों के लिए, अपने दो कमरे दे सकूगी ? वैसे अपने एकाकी जीवन में, मुझे किसी प्रकार का व्याघात अच्छा नहीं लगता, किन्तु प्रतिवेशियों के प्रति सामाजिक कर्त्तव्यबोध ने, साथ-साथ किसी की भी कन्या के विवाह मे यह सामान्य-सा

सहयोग देने की बलवती इच्छा ने स्वयं मेरी सुविधा, असुविधा को पीछे ढकेल दिया। मैंने स्वीकृति दे दी। विवाह तिथि आसन्न थी, इसी से देखते-ही-देखते अतिथियों की भीड़ जुटने लगी। मुझे दो अत्यंत निरीह शान्त अतिथियों की मेजबानी निभानी थी, कन्या के सौम्य पिता एव वृद्ध पितामह! बड़े संकोच से, दोनों ही ने कृतज्ञतापूर्वक मेरा आभार प्रदर्शन किया, 'क्षमा कीजिएगा, आप ही को कष्ट देना पडा, पर हम आपको कोई भी कष्ट नही होने देंगे, केवल रात सोने के लिए आएंगे।" और सचमुच ही मुझे यह भी पता नही लगा कि मेरे यहा सर्वथा अपरिचित अतिथि आए हैं। उनके रहने से मुझे रंचमात्र भी असुविधा नही हुई। यही नही उनके जलपान, भोजन, चाय के साथ-साथ, मेरे लिए भी थाल लगकर आने लगा। शामियाना लग गया था, दरियों पर बीमियो दर्जन बच्चे नये-नये कपडे पहन गुलांठें खाने लगे थे। हलवाई ने चूल्हे का विधिवत् पूजन कर कड़ाई चढ़ा दी थी, मैली बनियान को छाती पर चढा, उन्नत उदर खुजाता हृष्टपुष्ट हलवाई बमगोले-से बून्दी के लड्डू और ढाल-सी मठरिया बनाता, बड़े-से टोकरे मे रख रहा था कि सहसा शोर मचा, "अशर्फी देवी जल गई!" मैने भागकर बरामदे से झाका कि देखू कौन जल गया। हलवाई बडबडा रहा था, "सब हरामखोर है, अब देखिए भाई साहब, दो मिनट के लिए इन्हें कड़ाई सौपकर सुर्ती-खैनी खाने गया कि जलाकर राख कर दी।" फिर उसने एक जली स्याह मठरी को निकालकर पास खड़े कारीगर को डांटा, "अब खड़ा मुंह क्या ताक रहा है, जरा-सी राख ला तो, कोयलो पर डाल, आंच मंदी कहं।"

"कौन अशर्फी देवी जली कृष्णा?" मैं अपना कौतूहल रोक नही पाई और मैंने गृहस्वामिनी से पूछ लिया!

"अरे मट्ठी जल गई" उसने हंसकर कहा, "हमारे यहां

लड़की की ससुराल को ऐसे सवा सौ लड्डू और इक्यावन मट्ठिया भेजी जाती हैं, हर मट्ठी पर घर की बड़ी-बूढ़ियों का नाम लिखा जाता है, अशर्फी देवी बिट्टी की होने वाली ददिया सास हैं। उन्ही की नाम लिखी मट्ठी जल गई।"

मुझे हंसी आ गई, अपने पीछे खड़े कन्या के पिता को मैं देख नही पाई थी।

"अब देखिए ना" वे खिसियाए स्वर मे बोले, "कैसे बेकार के रिवाज हैं पर एक हम हैं कि इन्हें मनाये जा रहे हैं, पर मजबूरी है, न करें तो सोचेंगे हम पैसा बचा रहे हैं।" कन्या के पितामह सारा दिन ही सड़क पर टहलते रहते। मैंने एक दिन देखा, इधर-उधर देखकर उन्होंने एक ठेले वाले को रोककर चार केले खरीदे और जल्दी-जल्दी खा गए। घर का आंगन तो मिष्टान्न-पकवानो की सुगंध से सुवासित हो रहा था फिर ये बेचारे भूखे कैसे रह गए? कन्या के पिता को नीचे जाने में जरा भी विलम्ब होता तो नीचे से कर्कश स्वर मे कन्या की मां अधैर्य से पुकारने लगती, "सोते ही रहोगे क्या? अमीनाबाद से रजाई का बक्सा कौन लाएगा, मेरा बाप?"

मैं स्तब्ध रह गई थी, यह जानकर भी कि पति एक सवथा अपरिचित गृह का अतिथि है और मेजबान भी बरामदे में खड़ी है, ऐसी औद्धत्यपूर्ण-अशालीन भाषा का प्रयोग!

"असल में, अचानक ही विवाह तिथि निश्चित हुई, उस पर वर पक्ष का आग्रह था कि हम लखनऊ आकर ही विवाह करें, इसी से बेचारी कुछ घबड़ा गई है, उस पर हाई ब्लड प्रेशर है, आप अन्यथा न लें।" कन्या के पिता ने पत्नी की अशिष्टता की कैफियत दी तो मैंने हंसकर कहा, "कन्या के विवाह में किस मां का पारा नही चढ़ता? कौन पत्नी पति पर नही बरसती? मैंने भी तीन-तीन कन्यादान किए हैं।"

आश्वस्त होकर वे चले गए, किन्तु जिस दिशा को जाते, बेचारे पत्नी के शब्दवेधी बाणों से निरन्तर शरविद्ध होते रहते।

"हद है, सौ बार कह चुकी हूं कि बैंक से रेजगारी लानी है, नये नोट लाने हैं, अरे आखिर कब नोट आएंगे और कब उनकी माला बनेगी। पर कोई सुने तब ना—न अभी तक हलवाई को बयाना दिया गया है न सकोरे-पत्तलों का इन्तजाम हुआ है, आखिर आप कर क्या रहे थे अब तक ?"

जितना ही कर्कश स्वर पत्नी का था, उतना ही कोमल स्वर पति का था। गुनगुनाकर न जाने क्या कहते कि उत्तर सुन नहीं पाती। रवीन्द्रनाथ ने नारी के दो रूपों का वैशिष्ट्य बताया है 'जननी या प्रिया'। मेरी धारणा है कि पुरुष के भी दो ही रूप हैं स्वामी या सेवक। बेचारे मेरे अतिथि दूसरी श्रेणी में आते थे। लगता था उनका अपना कोई अस्तित्व ही नहीं है। उस दबंग स्वर की गरीयसी स्वामिनी को देखने का कौतूहल ही मुझे वहां खींच ले गया। उनके दीर्घांगी मेद-बहुल शरीर को देखकर मुझे लगा कि उस व्यक्तित्व के चौखटे में, वह रोबीला कंठ स्वर एकदम ठीक ही बिठाया है विधाता ने।

"आपने बड़ी कृपा की," कन्या की मां ने बड़े आदर से मुझे बिठाया, "वहां तो हमारी इत्ती बड़ी कोठी है कि सौ मेहमान भी आ जाएं तो पता न लगे, पर लड़के वालों की जिद थी कि हम यहीं आकर शादी करें। अरी दिव्या, क्या कर रही है, यहां आकर देख कौन आया है।" फिर मेरी ओर देख वे हंसकर बोलीं, "अजी आपकी किताबों के पीछे तो यह दीवानी है। एक कहानी नहीं छोड़ती।" बेचारी ! तब क्या वह जानती थी कि एक दिन उसे भी मेरी कहानी नहीं छोड़ेगी !

एक गोरी दुबली-पतली किशोरी, लज्जावनता मेरे सम्मुख

पड़ी थी। चेहरे पर वही अद्भुत लुनाई आ गई थी, जो विवाह तिथि निश्चित होने पर साधारण नैन-नक्श वाले चेहरे को भी असाधारण बना देती है। जिसने भी उसका नाम रखा था वह निश्चय ही साहित्यरसिक रहा होगा। मेरा अनुमान ठीक था।

"एक बार सुमित्रानन्दन पन्त जी हमारे यहां आए थे तब यह तीन साल की थी, हम इसे टूइया कहकर पुकारते थे, बोले, 'यह भी भला कोई नाम है, दिव्या कहकर पुकारो', बस तभी से यह दिव्या हो गई।"

"यह तो अभी बहुत छोटी है, आप अभी से इसकी शादी किए दे रही हैं।" मैंने कहा।

"अजी छोटी काहे की, अठारहवें में पड़ेगी, देखने की है बजरबोनी। इसकी उमर में तो हमारी दो बिटिया हो गई थी।"

उसी दिन दिव्या के पिता ने मुझे बताया कि उनकी भी इच्छा अभी दिव्या का विवाह करने की नहीं थी, पर लड़का अच्छा मिल गया, उनकी इस साली ने ही रिश्ता पक्का किया था।

"आप तो जानती है, हम लोगों में अच्छे लड़के के लिए अच्छी-खासी रकम देनी पड़ती है। दुर्भाग्य से हम कान्यकुब्ज ब्राह्मण है, हमारे यहां एक प्रकार से रेट बंधे हैं, आई० ए० एस० लड़का है तो सवा लाख, आई० पी० एस० तो एक लाख, इंजीनियर है तो अस्सी हजार और फिर साधारण नौकरी वाले के लिए भी कम-से-कम बीस हजार, उस पर दहेज अलग, डाक्टर लड़के तो कंधे पर हाथ नहीं धरने देते। यानी जैसा दाम खर्च कर सको वैसी ही चीज लो। कभी-कभी तो सोचता हूं बहन जी, बिहार में जो कन्या के पिता, सुपात्रों का अपहरण कर जबरन

दामाद बना रहे हैं, उसमें भी उनकी मजबूरी ही रहती होगी...''

''तो क्या आपको इस रिश्ते में भी रकम भरनी होगी ?' मैंने पूछा।

''और नहीं तो क्या ? पर ये लोग शरीफ हैं, इन्हें लड़की पसन्द है, कहा है कुछ नहीं मागेंगे, हम अपनी बिटिया को जो देना चाहें दे दें।'' बड़े गर्वजन्य सन्तोष से उनका शान्त चेहरा दमक उठा। बेचारे शायद इस कटु सत्य से अनभिज्ञ थे कि मुंह से कुछ न मागने वाले ही कभी-कभी मुंह खोलकर सब कुछ मांगने वालों से भी अधिक खतरनाक होते हैं !

लड़का चार्टर्ड एकाउण्टेण्ट था। अपनी दो-दो कोठियां थी, बड़ा भाई पुलिस का ऊंचा अफसर था, छोटा डाक्टर। जैसे-जैसे विवाह-तिथि निकट आ रही थी, छोटे-से फ्लैट में रौनक की गहमा-गहमी बढ़ती जा रही थी। कभी ठेलो से सोफासेट, पलंगों का जोड़ा उतारा जा रहा था, कभी स्टील की अलमारी और फ्रिज। उधर घरातियों के बीसियों नखरे, कोई ठण्डाई की फरमाइश कर रहा था, कोई लस्सी की, आंगन मे पड़े कुर्सियों के स्तूप का शिखर, मेरे फ्लैट की सरहद से सट गया था। बच्चों की चें-चें, पें-पें, स्त्रियों का कलरव, संध्या होते ही और घनीभूत हो उठता। उधर कन्या के ताऊ-ताई बुलन्द शहर से अचानक उस समय आ टपके थे जब उनके आने की आशा त्याग दी गई थी। कभी-कभी नीचे चल रहे दो बहनों के वार्तालाप का स्वर बड़े दु:साहस से मेरे कमरे की दीवालों को भेद कर चला आता। स्पष्ट था कि कन्या की जननी एवं ताई के सम्बन्ध बहुत सुविधाजनक नहीं थे।

''अरी आज तक कोई जिठानी देवरानी का सुख देख सुखी हुई जो हमारी महारानी होगी ?'' कन्या की मा एक दिन कह

रही थी, "बोलेंगी तो लगेगा शहद घोल रही है, पर बस चले तो हमारा कलेजा निकाल चबाय डारें।"

मैं सोचती हूं नारी स्वभाव की जितनी अभिज्ञता विवाहादि अनुष्ठानों में बटोरी जा सकती है उतनी शायद जीवन-भर इधर-उधर विभिन्न गृहों के अन्तरंग कक्षों में झांक-झूक, कर नहीं बटोरी जा सकती। मैं देख रही थी कि जहां आमोद-प्रमोद, खिजाने-चिढ़ाने, नाचने-गाने की भूमिका संजोई जाती, झट से मुंह लटकाकर कन्या की ताई छत की मुंडेर पकड़ ऐसे खड़ी हो जाती जैसे—वह किसी अपरिचित परिवार की भूल से न्योती गई अतिथि हो। कोई भी देखकर बता सकता था कि गृह की वह साज-सज्जा, वृहत् सुनियोजित आयोजन, बिजली की जगमगाहट कन्या के चढ़ावे में आने वाले गहनों का सुना-सुनाया लेखा-जोखा ताई की छाती पर कोमियों विषधरों को लोटा रहा है। उधर कन्या की मां कमर में आंचल खोंसे विवाह के कर्मक्षेत्र में अकेली डटी थी। कभी पति पर चिंघाड़ती, कभी हलवाइयों पर और संध्या होते ही ढोलक लेकर बैठ जातीं, यही नहीं, एक बार नाचने को कहा गया तो झट घुंघरू बांध ऐसा थिरकीं कि क्या कोई बाई जी नाचेगी :

कहना तो मेरा मान ले,
मेरे शहजादे।

विवाह का एक ही दिन रह गया था, अचानक मेरे लिए नीचे से बुलौआ आ गया, मैं जल्दी नीचे चली आऊं, वरपक्ष के अतिथि दहेज सामग्री का अवलोकन करने आ रहे हैं। यह भी उनके यहां की एक विशिष्ट अनिवार्यता थी। देखकर, यदि कुछ फेरबदल करना हो तो कन्या के पिता को वहीं करना होगा।

मैं नीचे गई और करीने से सजे विभिन्न उपकरणों को

देखती ही रह गई। कौन-सी ऐसी वस्तु थी जो बेचारे निरीह पिता ने नहीं जुटाई थी। साड़ियों का स्तूप, टेलीविजन, फ्रिज, इस्तरी, बर्त्तन, रेशमी रजाइयां, लट्ठे-मलमल के थान, गैस का चूल्हा, सिलिण्डर, बिजली के पंखे आदि। इतने ही में अचानक स्त्रियों की भीड़ में भगदड़ मच गई। 'आ गए, आ गए' कहती कन्या की मां सिर पर आंचल खींच, द्वारपाल की मुद्रा में सतर्क खड़ी हो गई। कहां गई वह तेजस्वी मुखमुद्रा और थानेदार का-सा वह रौबीला कंठस्वर!

"वह है नीली कमीज वाला।"

"अरे नहीं वह तो छोटा भाई है।"

"तब कौन?"

"अजी वह है चेचकरू दाग वाला…"

"हाय राम, यह तो दो बच्चों का बाप लग रहा है?" विभिन्न फुसफुसाहटों के सूत्र से मैंने भी दूल्हे को पहचान लिया। तब क्या सचमुच इसी अंधे के हाथ बटेर लगी थी? कहां दिव्या और कहां यह! किसी मांसहीन कंकाल को ही जैसे किसी ने पहना-ओढ़ा के भेज दिया था। हाथ में छड़ी लिए, पगड़ी बांधे ससुर, ऐसे चले आ रहे थे जैसे कोई राजप्रमुख प्रजा के बीच से गुजर रहा हो।

"देखिए समधी जी" साड़ियों के स्तूप की ओर वर के पिता ने छड़ी घुमाई, "हमारे घर की रुचि जरा सोफियानी है, वे ये सब तड़क-भड़क की बनारसी कभी नहीं पहनेंगी—ये सब हटा-कर कांजीवरम और चंदेरी गढ़वाल रखवा दें। यही फरमाइश मेरी लड़कियों ने भी की है।" छड़ी से उन्होंने साड़ियों को ऐसे उथल-पुथल दिया जैसे कोई स्वास्थ्य निरीक्षक, सड़क की पटरी पर सड़ी-गली सब्जी या खुले-कटे तरबूज का ठेला उलट देता है। मुझे त बुरा लगा, यह भी कोई तरीका है। कन्या-

पक्ष के इतने अतिथियों के सामने कन्या के पिता का ऐसा अपमान ! अलग ले जाकर भी तो कह सकते थे। कन्या के पिता अन्त तक हाथ जोड़े, ऐसी व्यर्थ कृतज्ञ मुसकान बिखेरते रहे जैसे कह रहे हों, आपकी जूती मेरा सर ! चलते-चलते सहसा वर के पिता मुड़े, "हमने तो आपसे कह ही दिया है हम कुछ नहीं लेंगे। द्वाराचार में हमारा और हमारे अतिथियों का स्वागत ठीक-ठाक रहे, बस इसी का ध्यान रखियेगा।"

बस, इसी आदेश के गूढ़ार्थ को बेचारा कन्या का पिता ग्रहण नहीं कर पाया। स्वागत तो अच्छा ही किया, अतिथियों के कण्ठ में अजगर-से पृथुल फूलों के हार भी पड़े। गुलाबजल का छिड़काव भी हुआ। वर के लिए कहीं से मर्सिडीज भी मांगकर फूलों से भरपूर सजाई गई। आमिष, निरामिष व्यंजन, विदेशी सुरा के क्रेट के क्रेट, क्या नहीं किया बेचारे ने। लड़की विदा होने लगी तो मां और मौसी को रोते-रोते गश आ गया, पर पिता हाथ बांधे समधी के सामने ऐसे खड़े हो गए जैसे दीन-हीन चोबदार हों। एक ही रात में उनका दमकता चेहरा स्याह पड़ गया था। "आप लोगों के स्वागत में कोई त्रुटि हुई हो तो क्षमा करें"—उन्होंने धीमे स्वर में कहा। समधी की आंखों से अभी तक रात की खुमारी नहीं उतरी थी। काले चेहरे पर आरक्त आंखें, इंजन के अग्नि स्तूप-सी चमक रही थीं। एक ही आनन को, दशानन की अहंकारी मुद्रा में हिलाते वे बोले, "क्या त्रुटि रह गई है, यह भला हम अपने मुंह से क्या कहें, हम तो आपके मेहमान हैं। पर हां, यह जो ५०० आपने द्वाराचार में रखे हैं, यह लीजिए, इन्हें आप हमारी ओर से नाई, धोबी, महरी और सालियों को बांट दें।"

अपमान से कन्या के पिता का चेहरा स्याह पड़ गया। मैं वहीं खड़ी थी, एक क्षण को उस निरीह व्यक्ति का अपमान

स्वयं मेरा अपमान बन गया। जी मे आया, नोटों की गड्डी, जिसे वर के पिता बरबस उनके हाथों में ठूस रहे थे, छीनकर उन्हीं के मुंह पर दे मारूं! पर मुझे किसी के व्यक्तिगत कर्मक्षेत्र में कूदने का अधिकार ही क्या था।

रात को वे नित्य की भांति, चुपचाप अपने कमरे का ताला खोल रहे थे कि मैं टेलीफोन की घण्टी सुनने आई, उन्होंने निरीह दृष्टि से मुझे देखा और सर झुका दिया जैसे दोपहर की उस भद्दी घटना का समग्र उत्तरदायित्व उन्हीं का हो। "चलिए सब कुछ निर्विघ्न सम्पन्न हो गया—आपको बधाई भी नहीं दे पाई।"

वे एक पल को चुप खड़े रहे फिर रुंधे गले से बोले, "आप तो सब सुन ही रही थीं। कैसे विचित्र लोग हैं, पहले स्वयं कहा कि कुछ नहीं लेंगे, केवल कन्या के हाथ पीले कर, उन्हें सौंप दें। अब चलते-चलते पैंतरा बदल लिया। मुंह खोलकर कहते तो हम उनकी वह मांग भी पूरी कर देते। अब दिव्या की चिन्ता लगी रहेगी—बहुत भोली है।"

"आज पिता जी नहीं आए?" मैंने पूछा।

"पिता जी ने यह सब नाटक देखा तो नाराज होकर कानपुर लौट गए, बोले—कसाई को गाय थमाना हमने नहीं सीखा—तुम और बहू ही यह लेन-देन निभाते रहो, हम चले।"

"आप चिन्ता न करें, सब ठीक हो जाएगा, ऐसी सुन्दर लड़की है आपकी, गुण-रूप देखकर अपनी सब मांगें भूल जाएंगे।"

अब कभी-कभी सोचती हूं। नारी होकर भी मैं उन्हें एक नारी के प्रति हो रहे अन्याय का विरोध करने को क्यों नहीं उकसाई। क्यों नहीं कह सकी कि जो सगाई में ही ऐसे नीच लोलुप स्वभाव का परिचय दे गया, उसे क्यों अपनी कन्या सौंप

रहे हैं आप ? अभी क्या बिगड़ा है, तोड़ दीजिए यह सगाई।

विवाह हुआ था और बड़ी धूम से हुआ था, इसी से थकान उतारने में भी कन्या पक्ष को तीन-चार दिन लगे, फिर अचानक एक दिन कन्या के पिता मुझसे विदा लेने आए। उसी दिन, साली के यहां से डेरा-डण्डा उखाड़ वह प्रवासी परिवार चला गया। मैं उन्हें पहुंचाने बाहर तक जाकर लौट रही थी कि देखा, उनकी दीवार पर, दो दुबली-पतली हल्दी सनी हथेलियों की छाप बनी है।

"हमारे यहां ससुराल जाने से पहले लड़की यही छाप मायके की दीवाल पर लगा जाती है," दिव्या की मौसी ने कहा। मन न जाने कैसा हो गया।—क्या पुत्री का यह स्मृति चिह्न सदा अम्लान रह पाएगा ?

धीरे-धीरे, प्रत्येक वर्ष की पुताई के साथ-साथ वह छाप धुंधली पड़ती-पड़ती, रेखा मात्र रह गई थी। दिव्या के मौसा की बदली हुई, वहां दूसरा परिवार आ गया, उन्होंने दीवाल पर डिस्टेम्पर करवाया और पूरे फ्लैट का नक्शा ही बदल दिया।

एक दिन दिव्या की मौसी मिल गईं, "दिव्या कैसी है ?" मैंने पूछा, उस मासूम चेहरे को मैं भूल नहीं पाई थी।

"वह अब कहां है !" एक लम्बी सांस खींचकर उन्होंने कहा।

"क्या ?"

"विवाह के चार ही महीने बाद गैस पर खाना बना रही थी, मायलान की साड़ी पहने थी, आंचल में आग लगी—मिनटों में ही झुलस गई, दूसरे ही दिन खतम हो गई।" भारी मन से मैं घर लौटी, दीवार देखते ही वे धूमिल हथेलियां जैसे वह खोल-कर मेरे सामने खड़ी हो गईं।

पर क्या सचमुच ही उसका आंचल अनजाने में आग पकड़ बैठा था। उसकी विदा के क्षण, उसके ससुर का उग्र कण्ठस्वर, फिर कानों में गूंज उठा, 'क्या त्रुटि रह गई है, यह भला हम क्या बताएं' उसी त्रुटि को बताने तो कहीं उस दशानन ने उस फूल-सी सुकुमार लड़की की हल्दी लगी हथेलियों की छाप सदा-सदा के लिए मायके की दीवार से नहीं मिटा दी? पर ऐसा कुछ हुआ होता तो उसकी मौसी कुछ तो बताती। पर जो मौसी नहीं कह पाई वह स्वयं उसकी मां आकर बता गई। किसी वकील की राय लेने लखनऊ आई थीं, मुझसे मिलने भी चली आईं। मुझे देखते ही रोने लगी, "आपके आटोग्राफ लेगी, कहती रही, शादी के भभ्भड़ में सब भूल गई। मार डाला कसाइयों ने, मैं भी नहीं छोड़ूंगी। मेरी कोख बलबला रही है बहन। खबर पाते ही मैं अस्पताल भागी, लड़की तड़प रही थी। बहन ने कहा, 'जीजी, तुम मत जाओ, देखा नहीं जा रहा है।' पर मैंने उसे धकेल दिया। ओफ, मेरी सोने की छड़ी जल-कर कोयला बन गई थी। थोड़ा-थोड़ा होश था। मैंने पूछा, 'बेटी, कैसे हुआ यह?' बोली—'अम्मा हुआ नहीं, किया गया,' बस, आंखें पलट दीं।

"न वहां उस बयान का साक्षी था, न नर्स, न डाक्टर—हां, एक साक्षी थी, स्वयं मेरी सगी बहन, वह मुकर गई।

"मैंने चीख-चीखकर कहा, 'मेरी बेटी जली नहीं, उसे जलाया गया है, वह मुझसे स्वयं कह गई है।'

"पर मेरी ही सगी बहन ने मेरा मुंह दाब दिया, 'क्या कह रही हो जीजी! दिव्या खाना बनाने में जली है, उसे किसी ने नहीं जलाया।' 'तू झूठी है, तेरे पति भी पुलिस के अफसर हैं और दिव्या का जेठ भी, तुम्हारी बिरादरी हमेशा अपने पेशेवर को ही बचाती है। तूने ही यह रिश्ता इन कसाइयों से पक्का

किया था।' पर बहन, मेरी सगी बहन ही मुझसे नाराज होकर घर चली गई—तब से दर-दर भटक रही हू, कही तो न्याय की भीख मिलेगी। हत्यारा अभी भी मूंछों पर ताव देता घूम रहा है, सुना है दूसरी जगह रिश्ते की बात चल रही है।"

मैं स्तब्ध थी। वह आंखें पोंछती उठ गई, "इसी से मैं आपके पास आई हूं—कृष्णा के यहां नहीं गई, फोन किया तो बोली, 'जीजी, तुमने पुलिस केस किया तो हम तुम्हारी मदद नही कर पाएंगे, जो हुआ उसे भूल जाओ।' भूल जाऊं ? दस महीने जिसे गर्भ मे रखा, पाला-पोसा, जिस अनजान खूंटे से बांधा वही गाय-सी जो बंधा गई, उसे भूल जाऊं ? मैंने भी श्राप दिया है बहन, जैसे उस कसाई ने मेरी बेटी को जलाया है वैसे ही वह भी तिल-तिलकर जले !" उनकी आंखों से जैसे आग की लपटें निकल रही थीं।

सच्चे हृदय से निकली बददुआ कभी व्यर्थ नही जाती। वर्षों पूर्व ऐसे ही श्राप को फलीभूत होते मैंने स्वयं देखा है। अल्मोड़ा के ही एक ऐसे सच्चे ब्राह्मण के श्राप ने क्या तत्कालीन जेलर को रात बीतते न बीतते चुटकियों मे निष्प्राण नही कर दिया था ? कुमाऊं केसरी बद्रीदत्त जी तब स्वतंत्रता संग्राम मे जेल में बंदी थे, क्रूर जेलर के अमानुषिक अत्याचार से क्रुद्ध पाण्डेय जी ने नहा-धोकर हाथ में जल लेकर कहा था, "अरे दुष्ट, ले मैं कुमाऊं का ब्राह्मण तुझे श्राप देता हूं, जैसे तू हमें मार रहा है, भगवान् तुझे मारे।" और भोर होते ही दिल के दौरे ने उस हृष्ट-पुष्ट जेलर को जेल मे ही नही संसार से हटा दिया था। फिर तो जहां पाण्डेय जी जल हाथ मे लेते, सुना है कि बड़े-से-बड़े अफसर भी उनके चरण पकड़ लेते थे। किन्तु अब कहां हैं वैसे सच्चे ब्राह्मण और कहां है वह ब्रह्मतेज। इतने वर्ष बीत गए, फिर दिव्या की मां मुझे कभी नही मिली, पता

नहीं उनके दग्ध हृदय से निकला वह श्राप, फलीभूत हुआ या नहीं किन्तु मेरे फ्लैट की निचली दीवार से, हल्दी लगी उन हथेलियों की छाप अब एकदम ही विलीन हो चुकी है।

लिखूं....?

यह प्रश्न पिछले दो वर्षों से मुझे विचलित कर रहा है। कई बार कलम उठा चुकी थी किंतु उतनी ही बार हारकर रख दी। कभी चित्त बहुरूपिया बन, उदार दलीलें देता, कभी स्वयं कलम थाम लेता। आज तक स्मृति गह्वर से न जाने कितने कंकाल खींच पाठकों को थमा चुकी हूं, किन्तु इस कथानक का उलझा सूत सुलझाने बैठती हूं तो वही धूसर स्मृति किसी अशरीरी-प्रेतछाया-सी मुझे सहमाने लगती है। छिः-छिः यही मैत्री निभा रही है तू? मेरे जिस पलायन के कलंक को मेरे आत्मीय स्वजन भूल चुके हैं, जिस रहस्य के गड़े मुर्दे की कब्र को, लापरवाही से उग आये झाड़-झंखाड़ ने एकदम ही अदृश्य कर दिया है उसी मुर्दे को उखाड़ रही है तू? भूल गई है क्या कि मेरी एक विवाहिता पुत्री और है; भले ही आज वह सुदूर अफ्रीका के किसी गहन वन अरण्य में अपने वैज्ञानिक पति के साथ किसी दुरूह शोधकार्य में ऐसी खो गयी है कि शायद ही कभी भारत लौटे। पर यदि कभी लौट आई तो? ऐसा तो है नहीं कि उसके पास भारत की पत्र-पत्रिकाएं पहुंचती ही न हों! फिर तू मेरा नाम भी तो नहीं बदल रही है। कैसे

बदलूं प्रिया ! वह नाम ही तो तेरे व्यक्तित्व की व्याख्या कर सकता है। विधाता का दिया वह नाम मैं कैसे बदलूं !

फिर क्या तुम्हारा कलंक उजागर कर रही हूं—मैं तो केवल यह सिद्ध करना चाह रही हूं प्रिया, कि तेरे पलायन का कलंक कलंक नहीं था, विवशता थी ! प्रिया दामले, अपने पितृकुल का ऐसा जगमगाता दीपक थी, जिसके दहेरी पर पैर रखते ही पितृकुल का बाहर-भीतर दोनों उजागर हो गया था।

उसके पिता चार भाइयों में सबसे बड़े थे। दुर्भाग्य से तीन चाचाओं में से दो निःसंतान थे। तीसरे ने विवाह ही नहीं किया। इसी से बड़े लाड़-प्यार में पली प्रिया बचपन से ही अबाध्य बन उठी थी। दस-बारह वर्षों तक उसे लड़कों के ही कपड़े पहनाए गए, वैसे ही छोकरा-कट बालों में वह एकदम लड़का लगती थी।

जब वह मेरी सहपाठिन बनकर होस्टल में आई तो मैं ही नहीं सब ही छात्र-छात्राएं उस छरहरी सुंदरी के तेजस्वी व्यक्तित्व से सहम-से गए थे। लगता था, मधुमास में जन्मी किसी कलिका-सी उस किशोरी का सौकुमार्य, चापल्य, मार्दव मे मंडित करने में विधाता ने, उन वनस्पतिजन्य रंगों का प्रयोग किया था जिनका प्रयोग इन दिनों आश्रम के कलागुरु नंदलाल बोस कर रहे थे, पलाश, हरिद्रा, गुलबनप्सा, हरीतकी।

विधाता की उस प्रतिभा-प्रसूत सृष्टि को देख, सचमुच यही लगता था कि मोनालिसा के विश्वविख्यात चित्र की रहस्यमय मुस्कान को समझने की भांति प्रिया के दृढ़ता से भिंचे मयूरपिंड अधरों की मुसकान समझने के लिए भी शायद अनंतकाल तक व्यर्थ प्रयास चलते रहेंगे।

आश्रमगुरु रवींद्रनाथ ने शायद ठीक ही कहा था कि नारी सौंदर्य का अर्धभाग प्रकृति की देन है, किंतु उसका शेष सौंदर्य

केवल काव्य है, प्रेमी और कवि की उर्वर कल्पना का परिणाम ! मैं जानती हूं, यहां मेरे पाठक, शंका की नंगी संगीन लिए एक बार फिर मेरे सामने खड़े हो जायेंगे—ऐसी भी क्या कल्पना जो सदा की भांति सुंदरी नायिका को कल्पना के तुरंग पर आरूढ़-कर मानव पकड़ से दूर हवा में उड़ाकर रख दे !

किंतु मेरा आपसे अनुरोध है, मुझे उस दिव्य व्यक्तित्व की वर्णना जी भरकर कर लेने दें। मैं आपको विश्वास दिलाती हूं, मेरी स्मृति कल्पना को रंचमात्र भी प्रश्रय नहीं दे रही है।

'सुष्ठु उन्नति आर्द्रयति मनः' यह तांत्रिक साहित्य में भले ही त्रिपुरसुंदरी या योगिनी के लिए प्रयुक्त हुआ हो, प्रिया भी वैसे ही मन को आर्द्र करने में समर्थ थी। उसका वही तेज देख पहले हम सब सहम गए थे, किसी ने भी उसकी ओर मैत्री का हाथ नहीं बढ़ाया। अपने साथ वह बड़े-बड़े दो सूटकेस भर-कर विचित्र परिधान लाई थी। राजस्थानी लहंगे, कच्छी-चूनर, जामनगरी छायल, चूड़ीदार कुर्ते, अंगरखे और लेडी हेमिल्टन रेशम की सलवार-कमीजें। उससे कई बार स्पष्ट कह दिया गया था कि आश्रम की कक्षा में वह केवल सूती साड़ी ही पहनकर प्रवेश पा सकेगी।

"ठीक है।" उसने अपनी सुराहीदार ग्रीवा और तानकर कहा था, "होस्टल में तो जो जी मे आए, वह पहन सकती हू।" और वह फिर वही करती थी। रात को आश्रम-भोजनालय में जाती तो उसके आते ही हंगामा मच जाता।

"ओई जे नामछेन आकाश थेके उर्वशी !" (देखो-देखो, उर्वशी आकाश से उतर रही है) वह न दायें देखती न बायें, अपने साथ लाया गया बगुले के पंख-सा स्वच्छ नेपकिन गोद में धर, बंगाल का 'घंट', 'शुक्तो', 'चच्चड़ी' का गस्सा मुंह में धरते ही नाक चढ़ा पानी का एक घूंट पीकर उठ जाती। एक

दिन मैंने ही उसे टोक दिया, "तुम तो रोज भूखी ही उठ जाती हो, खाती क्यों नहीं ?"

"ऐसा खाना मेरे घर के कुत्तों को भी नहीं दिया जाता, कैसे चुपचाप खा लेती हो तुम लोग ?"

आश्रम के एक-एक नियम को वह जिस दुःसाहस से रौंदे जा रही थी. उसे देख हम कांपे जा रहे थे कि अब इसकी पेशी निश्चय ही हमारी कठोर फ्रेंच दीदी के सामने होगी और वे निश्चित रूप से इस नकचढ़ी के अहंकार का भूत एक पल में झाड़कर रख देंगी। किंतु, कुछ भी नहीं हुआ, पता यही लगा कि उसके पिता लार्ड सिन्हा, विधान राय एवं नीलरतन सरकार के अभिन्न मित्र हैं एव उन्हीं के प्रभाव से प्रिया आश्रम में स्वच्छंद विचरण कर सकती है। ऐसा नहीं था कि उसे कभी गुरुजनों की फटकार मिलती ही नही थी, किंतु जब कभी मिलती, वही निषेध उसे और उद्धत बना देता।

सचमुच अद्भुत लड़की थी वह ! आकाश को भी लांघ जाने का उसका अदम्य उत्साह, बाधाओं से जूझने को उसका सदा गर्वोन्नत सिर, कठोर कशाघात को सहकर भी किसी को कुछ न समझनेवाली मुद्रा, आज उसके रंगीले-रसीले भावों की कटु-तिक्त-मधुर स्मृतियां मुझे विह्वल कर रही हैं। उसे, लड़कियों में उठना-बैठना अच्छा नहीं लगता था।

इसमें कोई संदेह नहीं कि काम मन का मूल है किंतु प्रिया में वह काम शायद कुंठित होकर ही तीव्रतर हो उठा था। उसके लिए पुनर्य का ही महत्त्व था, नारी का नहीं। एक तो उसके शरीर की गढ़न भी ऐसी थी कि लगता था कि खजुराहो की भित्ति को ही कोई मूर्ति जीवंत हो उठी है। उसके पृथुल नितंब, मांसल अंग-प्रत्यंग, वर्तुल वक्षःस्थल, तिर्यक् दृष्टि, सब ही विलास एवं उद्दाम काम के प्रबल संकेत देते थे—शायद

यही कारण था कि छात्रमंडली उसके इर्द-गिर्द भौंरे-सी मंडराती रहती। लड़कियों में उसकी एकमात्र मित्र मैं ही थी। यद्यपि आश्रम की ही छात्रा मेरी बड़ी बहन मुझे कई बार कठोर चेतावनी दे चुकी थी कि उस बेहया अहंकारी लड़की से मैं गज-भर की दूरी ही बरतूं!

"खुद तो बदनाम है ही, तुझे भी ले डूबेगी, खबरदार जो मैंने तुझे उसके साथ घूमते-फिरते देखा!" किंतु मुझे हमेशा यही लगता था कि लोग उसे गलत समझते हैं। वह अहंकारी नहीं थी, वह तो उसका चेहरा ही विधाता ने ऐसा बनाया था कि उसकी सरल दृष्टि भी अहंकारदीप्त लगती। गणित में उसे स्वयं सरस्वती का वरदान प्राप्त था—कठिन-से-कठिन सवाल भी वह चुटकियों में हल कर देती, स्मरणशक्ति ऐसी अद्भुत थी कि एक बार किसी पाठ पर आंखें फेरती और दूसरे ही क्षण विराम-अर्द्धविराम सहित पूरा पाठ दनादन उगल देती। उसका बंगला उच्चारण एकदम त्रुटिहीन था, साहित्य सभाओं में वह रवींद्रनाथ, जीवनानंद दास, विष्णु दे की कविताओं की आवृत्ति करती तो लोग आश्चर्य से मन्त्रमुग्ध हो सांस रोके उसे देखते रहते।

"की मेये रे बाबा! एई तो बांगालीर थेकेओ बेशी बांगाली।" (क्या लड़की है रे बाबा, यह तो बंगाली से भी अधिक बंगाली है)। उसकी यही आश्रमव्यापी ख्याति लड़कियों को जला-भुना देती। एक बार होस्टल की छात्राओं ने उसकी शिकायत कर दी कि वह आधी रात को कमरा बंद कर सिगरेट पीती है। मैं तो कांप गई कि तलाशी लिए जाने पर मेरी वह दबंग सखी अब अवश्य ही पकड़ी जायेगी, क्योंकि मैं जानती थी कि सूटकेस में रेशमी साड़ियों की तहों के बीच वह थल्ले के थल्ले सिगरेट के पैकेट छिपाकर रखती है! यह १९३६ की

बात है, आज शायद लड़कियों के छात्रावास में, उनके सूटकेस मे चरस-गांजे के बीड़े भी पकड़े जाने पर उन्हें उदार जमाना मुक्त कर दे पर तब किसी छात्रा के सिगरेट पीने का संदेह भी उसके लिए चुल्लू-भर पानी में डूब मरने वाली बात होती थी। मैंने उसे एक दिन टोका भी था, "छिः-छिः, प्रिया, तुम सिगरेट पीती हो?"

"क्यों, क्या बुराई है इसमें? स्त्रियां तंबाकू, जर्दा खा सकती हैं तो सिगरेट क्यों नहीं पी सकतीं भला? और फिर मुझे पकड़ने वाला आज तक पैदा नहीं हुआ —तू क्यों घबड़ाती है?"

सच, गजब की लड़की थी वह! जब बिना किसी पूर्व सूचना के एक दिन उसके दोनों सूटकेस जब्त कर लिए गए तो उसके चेहरे पर शिकन भी नहीं उभरी। सब लड़कियों की उपस्थिति में ही, जितनी ही बार उसकी एक-एक साड़ी झटकी जा रही थी, उतनी ही बार मेरा धड़कता कलेजा मुंह को आ रहा था किंतु एक वह थी बंदी कि वहीं पर बैठी गहन आत्म-विश्वास से मुसकराती चली जा रही थी जैसे कह रही हो— क्यों, मिला कुछ? रात ही रात में क्या सब पैकेट फूंक डाले थे छोकरी ने?

मैंने बाहर निकलते ही एकांत में उससे पूछा, "कहां गए सब पैकेट?"

"सब पी गई हूं! मेरी तलाशी लेने चले थे, बड़े-बड़े डूब गए, गदहा पूछे कित्ता पानी!"

इसी बीच पिता की बीमारी का तार पा मैं बंगलौर गई, लौटी तो पता लगा प्रिया अचानक आश्रम छोड़कर चली गई है। वह कहां गई, क्यों गई, किसी को कुछ पता नहीं था। लड़कियां मुझसे पूछतीं, "क्यों, तुम्हारी अंतरंग सखी थी—

तुमसे भी कुछ नहीं कह गई? किसी प्रेम का चक्कर था क्या?"

मैं क्या कहती, कुछ कहती भी तो क्या कोई विश्वास करता कि मुझसे कुछ कहे बिना ही वह चली गई है? स्वयं मैंने उसे उसकी उस सनकी बेरुखी के लिए क्षमा नहीं किया।

फिर वर्षों बाद, वह मुझे अचानक एक दिन स्टेशन पर मिल गई। आश्रम छोड़े वर्षों बीत गए थे, मेरा विवाह हो चुका था, छात्र जीवन की स्मृतियां बहुत पीछे छूट चुकी थीं। ट्रेन आने में विलंब था। मैं रेलवे बुक स्टाल पर खड़ी पत्रिकाएं उलट रही थी कि अचानक किसी ने मेरे कंधे पर हाथ रखा। मैं चौंककर मुड़ी तो वह मुझसे लिपट गई, वह भी उसी ट्रेन से जा रही थी, फिर तो अपने वातानुकूलित डिब्बे में ही वह मुझे जबरन खींच ले गई।

"तू चिंता मत कर, मेरे छोटे चाचा अब रेलवे बोर्ड के मेम्बर हैं, सब मुझे जानते हैं। अभी मिनटों में तेरा टिकट कनवर्ट करवा लेंगे।"

उस एकांत कक्ष में कितना कुछ कहने को था और कितना सुनने को! एक-एक कर कितनी ही रस-भरी स्मृतियां, वर्षों से किसी जंग लगे बक्से में से निकल रही भव्य बनारसी-साड़ियों की नेपथलीनी गंध से हमें विभोर कर गईं।

"तू अचानक ऐसे चली क्यों गई थी प्रिया?" मैंने पूछा।

"बहुत पुरानी बात हो गई, छोड़ भी, बस मन उचट

गया था हमारा, अब यह बता कि तेरी शादी कब हुई ? क्या करते हैं तेरे पति ?"

पर मैं तो उसके प्रश्न का उत्तर देना भूल एकटक उसे ही देख रही थी। वही प्रिया थी, वही रंग, वही रूप, वही कद-काठी किंतु कहां न जाने कुछ अटपटा लग रहा था—उसकी मायावी हंसी, उसका कंठस्वर या उसकी कुटिल चितवन !

"चल पहले कुछ खा लिया जाए।" उसने अपना ठाठदार नाश्तादान टोकरी में निकाला, स्वच्छ नेपकिन, कांटे-छुरी, चम्मच खनकते ही मेरी सुप्त क्षुधा भी जाग्रत् हो गई। क्या आला दस्तरख्वान सजा दिया था पट्ठी ने। इन मौलिक लटकों में तो वह हमेशा बेजोड़ थी।

"याद है ये मावे के पेड़े तुझे होस्टल में भी बेहद पसंद थे—अभी भी वह हलवाई जिंदा है और जैसे-जैसे बुढ़ा रहा है अभागा वैसे-वैसे और उम्दा पेड़े बनाता जा रहा है। खाकर देख।"

"तेरी शादी हो गई, प्रिया ?" पेड़ा मुंह में रखते ही मेरे भीतर कहीं उफनती प्रच्छन्न जिज्ञासा जिह्वाग्र पर आ गई। मैं मन ही मन सोच रही थी कि तब क्या इस सनकी लड़की की शादी नहीं हुई ? यह तो अभी भी मुझे मायके की दूकान के ही पेड़े खिला रही है। मेरे प्रश्न को अनसुना कर वह फिर चहकने लगी, "यह ले एक पेड़ा और खा—है ना बढ़िया ?"

मैं अपना कौतूहल रोक नहीं पा रही थी।

"तेरी शादी हो गई प्रिया ?" मैंने फिर पूछ दिया।

"हां," वह हंसी, "देखती नहीं यह कड़ा हुआ सालू ?" अपना फुलवरी दुपट्टा उसने मेरे सामने झंडी-सा फहरा दिया—पर यह तो प्रिया की चिरपरिचित उन्मुक्त हंसी नहीं थी।

तब, क्या वह अब तक कुंआरी ही थी या अकाल वैधव्य ने उसे ऐसी श्रीहीन बना दिया था, न कंठ में मंगलसूत्र था, न अंगुली में अंगूठी, न ललाट पर मद्रासी कंकु की उसकी वह बिंदी जिसके नीचे वह हमेशा एक नन्हा-सा काला गोल बिंदु संवार लिया करती थी। उसका वह मौलिक सज्जा प्रयोग फिर आश्रम मे फैशन बनकर ही चल निकला था जिसे। देखो, ललाट पर दो-दो बिंदियां।

मेरा गंतव्य स्टेशन आने को ही था, मुझे तो दूसरे ही स्टेशन पर उतरना था पर वह कहां जा रही थी ? "अपना पता नहीं देगी ? कभी चिट्ठी तो लिख देना, मेरा पता भी लिख ले।"

"अरे छोड़, जब मिलना होगा, ऐसे ही भगवान हमें मिला देगा —और एक बात बता दूं—संसार के अधिकांश पते झूठे होते हैं।"

क्या सचमुच ही बौरा गई थी लड़की या किसी पागलखाने से रोग मुक्त होकर लौट रही थी ? ऐसी गहन मैत्री थी हमारी और न अपने पता देने का उत्साह न मेरा पता लेने की व्यग्रता।

"मैं अगले स्टेशन पर उतर जाऊंगी," मैंने कहा और साड़ी की भांज ठीक करने उठने लगी।

उसने मेरा हाथ पकड़कर बिठा लिया, "नाराज हो गई ? तब सुन, मेरा विवाह हो गया, तेरी ही तरह मेरी भी एक प्यारी-सी बच्ची है, सुदर्शन पति है, बड़ा-सा प्रासाद है, दो कार हैं, यहां तक कि मेरे लखपती व्यवसायी पति का अपना चार्टर्ड प्लेन भी है। पर मैं यह सब हमेशा के लिए छोड़कर भारत चली आई हूं।"

"क्या कहती हो प्रिया ? क्या तुम्हारे पति···" मेरे अधूरे

प्रश्न को उसने स्वयं पूरा कर दिया, "क्या मेरे पति बदचलन हैं, शराबी हैं ? यही पूछना चाह रही है ना ? वही विदेश मे ही जन्मे, वहीं बस गए। किशोर पटवर्धन को कोई भी लत नहीं है, वह मुझे बेहद चाहता है—और मैंने ही उसे छोड़ा है, उसने नहीं।"

ट्रेन की गति धीमी हो रही थी, दूर से ही आसन्न बड़े स्टेशन की बत्तियां जुगनू-सी चमकने लगी थी।

मैंने अधीर होकर उसे झकझोर दिया, "कैसी मूर्ख है तू—कहती है तेरे एक बच्ची भी है, वह बड़ी होगी, विवाह होगा, तब क्या उसे मां का अभाव नही खलेगा ? फिर उसके निर्दोष पिता को तू अकारण ही छोड़कर चली आई !"

"अकारण नही," वह हंसी किंतु कैसी विचित्र हंसी थी वह ! "बहुत कारण हैं, मैं उसके विवाह तक बनी रहती तो उसकी लज्जा उसके लिए घातक बन सकती थी।"

स्टेशन आ गया था, मैं विदा लेकर उतर गई। वह देर तक खिड़की से हाथ हिलाती रही और एक बार वह हिलता हाथ वर्षों के लिए किसी शून्य में विलीन हो गया।

ठीक दस वर्ष बाद वह फिर मिल गई। आज कई बार सोचती हूं—न मिली होती तो शायद अच्छा ही होता।

नैनीताल जाड़ों में प्रायः ही मसान-घाट-सा वीरान हो जाता है। कहते हैं २५ दिसंबर को वहां अवश्य हिमपात होता है। मैं दस वर्षों तक वहा रही और कभी भी ऐसा नही हुआ कि बड़े दिन पर बर्फ न गिरी हो, जब नहीं भी रही, तब भी उस

ऐतिहासिक हिमपात का समाचार सुन लेती।

उस दिन भी २५ दिसंबर का हिमपात होकर उदार क्षणिक धूप से गलकर पिघल गया था। कई दिनों की अनवरत वर्षा के बाद, पहली बार निरभ्र आकाश चमका था, ताल लबालब छलक रहा था। नैनादेवी के मंदिर की क्षुद्र घंटियों के साथ गिरजे के गुरु-गंभीर घंटे की गर्जना पखावज की-सी युगल बंदी कर रही थी। ठंडी सड़क निःस्तब्ध सन्नाटे से घिरी एकाएक अंधेरी सुरंग-सी लग रही थी। न जाने किस सनक में मैं उस सन्नाटे में पाजाण देवी के दर्शन को निकल गई थी। ताल की कगार पर खड़े विलोवृक्ष मणिपुरी नर्तकियों की-सी अलस मादक लास्यपूर्ण मुद्रा में झूम रहे थे।

आकाश फिर धूसर मेघखंडों से घिरने लगा था, मैंने ठंडी बयार से सिहर, शाल कसकर लबादे-सा लपेट लिया और चाल तेज कर दी—नैनीताल की वर्षा, बिना किसी पूर्व सूचना के आ गये अतिथि की भांति, कभी भी आकर महमा देती है। कहीं ऐसा न हो कि तीव्र वर्षा का वेग मुझे बीच ही में दबोच ले और मैं अपने घर तक की कठिन चढ़ाई भी न चढ़ पाऊं। उन दिनों अवस्था भी ऐसी थी कि तेज चल पाना भी मेरे लिए कठिन हो रहा था।

सहसा किसी ने मेरे कंधे को अपने मजबूत पंजे से जकड़ लिया। मैं घबड़ाकर खड़ी ही रह गई। जनशून्य ठंडी सड़क पर दूर-दूर तक कोई नहीं था। कुछ ही दिन पूर्व, उसी ठंडी सड़क पर डिग्री कालेज की एक छात्रा की क्षतविक्षत लाश मिलने का समाचार पूरे नैनीताल को स्तब्ध कर गया था।

उन दिनों का नैनीताल आज का नैनीताल नहीं था, वहां खून हत्या तो दूर, सामान्य-सी चोरी या ताला तोड़ने की घटना ने भी कभी सरल नागरिकों को भयत्रस्त नहीं किया था। कुछ

दिनों तक वहां की धर्मभीरु गृहिणियों ने भी ठंडी सड़क पर जाना छोड़ दिया, पहले उस सड़क पर उन्हें केवल शेर, भालू का ही भय सहमाता था, पर अब तो मानव का ही भय उनके लिए नरभक्षी पशु बना जा रहा था।

"पहचाना नहीं ?" इस बार कंधे से हाथ हटा वह दीर्घांगी छाया मेरे सम्मुख खड़ी हो गयी। "प्रिया !" उसे बांहों में भरने में मेरे दोनों उत्साही हाथ जैसे किसी ने सहसा अदृश्य खड्ग से काटकर धरा पर डाल दिए। यह कैसा विचित्र वेष था उसका, ढीला इकबर्रा पायजामा, रेशमी कुर्ता और खुले बटनों से झांकती लोमश छाती, अधरों पर जर्दे-पान की लाली, सहसा उसकी आंखों मे लाल डोरे बनकर उतर आई थी। कहां गई वह लंबी वेणी, वह वर्तुल वक्ष, वह दुहरी बिंदी ?

मेरे सम्मुख प्रिया का ही अविकृत नक्शा था, वही कद, वही काठी, किंतु नहीं—वह प्रिया नहीं थी।

तब क्या वह उसका जुड़वां भाई था ? पर प्रिया तो अकेली ही थी, न भाई, न बहन, चाचा निःसंतान थे, मामा थे ही नही और मौसी कुंआरी थी।

"कौन हो तुम ?"

वह बड़ी बेहयाई से हंसा, "क्यों भाई, अभी तुम्ही ने तो प्रिया कहकर पुकारा था ना। अब पूछती हो मैं कौन हूं ?"

"नहीं, तुम प्रिया नहीं हो !" मैं जाने को उद्यत हुई।

"रुको," उसने कहा और इससे पहले कि मैं दामन बचाकर छिटकती, उसने दोनों हाथ फैलाकर, मेरा मार्ग अवरुद्ध कर दिया।

"तुमने ठीक ही पहचाना, मैं प्रिया ही हूं,"

"क्या बक रहे हो, छोड़ो मेरा रास्ता।"

"नहीं," फिर वह हमारी मैत्री के न जाने कितने प्रकरण

एक ही सांस में सुना गया—"याद है, जब तू और मैं एक्सकर्शन दल को धिस्सा दे कचौड़ी गली में कचौड़ी खाने सटक गए थे, और इक्के में लौट, राजघाट के पिछवाड़े के रास्ते, चुपचाप आकर अपने-अपने बिस्तर मे घुस गए थे ? याद है, जब तुझे मैंने चुटकियो मे उनचासवां थियोरम याद करवा दिया था जो तुझे याद ही नहीं होता था ? याद है, जब प्रभात मुखर्जी ने अपनी क्लास मे हम दोनों को कक्षा में बात करने पर पीरियड-भर खड़ी रखा था ? याद है, तुझे रात नीद मे चलने की आदत थी और हम दोनों एक-दूसरे की चोटियां बांध लेते थे कि तू चलने लगे तो मैं जाग जाऊं ? तू हमेशा मेरे पास आकर सो जाती थी—याद है…"

"बस चुप करो…" कह तो दिया पर मैं उसे स्तब्ध खड़ी देखती रह गई। कौन था यह अद्भुत सिद्ध जो मेरी और प्रिया की मैत्री के इन संस्मरणों की अभिज्ञता से मुझे सहमा रहा था। कहीं ऐसा तो नहीं कि प्रिया मर-खप गई हो और यह उसका दुष्ट प्रेत हो !

"अभी भी तू नीद में चलती है क्या ? पर सुन…" उसने बड़े स्नेह से मेरा हाथ थाम लिया, "अब तू डरकर मेरे बिस्तर में घुस भी आई तो मैं तेरी चोटी अपनी चोटी से नहीं बांध पाऊंगी, देख ना इधर," वह अपने कटे केश पर हाथ फेर बड़ी दुष्टता से मुसकराया।

मेरा चेहरा लाल पड़ गया।

सहसा मेरे गर्भस्थ शिशु की धड़कनें मेरी धड़कनों से मिलकर धड़क उठीं—धक, धक !

अंधेरा और घनीभूत हो गया। कुहरा धीरे-धीरे ताल के ऊपर शामियाने-सा टग गया था। मंदिर की आरती की गूंज कभी धीमी और कभी प्रखर होकर अयारपाटा के पहाड़ों से

टकरा रही थी।

"सुर-मुनि-मोहिनि सौम्या तू शोभाऽऽ बारा
विवसन विकट स्वरूपा, प्रलयमयी धारा
जग जननी जय-जय मा,
जग जननी जय-जय !"

"तूने उस दिन ट्रेन मे पूछा था ना, मैंने क्यों घर-बार छोड़ा? तो सुन, नीला के जन्म के बाद ही मेरा शरीर मेरे लिए पहेली बनने लगा। मेरे कधे स्वयमेव चौड़े हो गए, मेरी अंगुलिया मोटी होती चली गईं, मेरे पंजों मे लोहे की जकड़न आ गई, मेरी आवाज भारी होने लगी और मेरा दर्पण ही मुझे छलने लगा। पहले मुझे पुरुषो का साहचर्य प्रिय लगता था। अब किसी भी सुन्दरी युवती या किशोरी को देख मैं पागल हो उठती। पति-स्पर्श भी मुझे असह्य लगने लगा। बेचारा किशोर आश्चर्य से मुझे देखता। एक दिन उसने कहा, 'क्या हो गया है तुम्हे प्रिया ? क्या तुम मुझसे नाराज हो ?'

"मैं उससे कैसे कहती कि किशोर, मैं अब प्रिया नही रही —धीरे-धीरे अप्रिय बन रही हू।

"फिर एक दिन मैं साहस कर एक अज्ञात चिकित्सक के पास गई, अपने पी० पी० के पास जाती तो एक-न-एक दिन किशोर जान लेता। रुपया मेरे लिए हाथ का मैल था, मैं किसी भी विशेषज्ञ की ऊंची-से-ऊंची फ़ीस दे सकती थी।

"डाक्टर ने मेरे सन्देह की पुष्टि की, मैं धीरे-धीरे नारी त्व खोता छोड़ रही थी, एक सामान्य-सा आपरेशन ही मुझे पुरुष बना देगा, किन्तु मेरा पौरुष क्या मेरा ही सर्वनाश नही कर देगा, मेरी निर्दोष बच्ची, मेरा देवतुल्य पति ? वे क्या मेरे पौरुष को स्वीकार कर पाएगे ? क्या स्वयं मेरी लज्जा उनकी भी लज्जा नहीं बन जाएगी ?

"सौभाग्य से उन्हीं दिनों किशोर अपने व्यवसाय के सिलसिले में नाइजीरिया जा रहा था, उन दिनों वैसे भी हममें बोलचाल लगभग बन्द ही थी। मैंने अपना बेडरूम अलग कर लिया था। और उस बे-बात की सजा को बेचारा किशोर झेल नहीं पा रहा था।

"उसका-मेरा जाइंट एकाउंट था, उसी में से पर्याप्त धनराशि निकाल मैं नीता को अपनी एक मित्र के यहां यह कहकर छोड़ आई कि मैं अपनी बीमार मां को देखने भारत जा रही हूं। लौटते ही किशोर समझ गया होगा कि मैं अब कभी लौटूंगी नहीं क्योंकि मेरी मां तो मेरे विवाह से पहले ही गुजर चुकी थीं। फिर उस अज्ञात विशेषज्ञ के अज्ञात क्लिनिक में मैं स्वयं ही प्रिया का पिंडदान कर आई। वहां से सीधी भारत…"

"मुझे अपने घर चलने को नहीं कहोगी?" उसका भर्राया कंठस्वर, मैं भय से कंपा गया, इस सखी का यही आह्वान सुन शायद मैं उसे कभी हाथ पकड़कर घर खींच लाती, पर उस दिन उसका वह अनुरोध सुन मैं सिहर उठी। मैं बिना कुछ कहे तेजी से बढ़ने लगी कि उसने मुझे बाहों में भींच लिया।

मैं नहीं जानती उस दिन किस दैवी शक्ति ने मेरे अंग-प्रत्यंग में वह स्फूर्ति, वह साहस भर दिया—मैंने एक झटके से उस लौह बाहुपाश से अपने को छुड़ा उसे एक धक्का दिया। वह उस आकस्मिक आघात के लिए शायद प्रस्तुत नहीं था। कटे पेड़-सा वह नीचे गिरा और मैं हवा के वेग से भागी। कभी कालेज की रिले रेस में, मैं एक कदम आगे बढ़ा अपनी इसी सखी की प्रलंब भुजा की प्रतीक्षा में खड़ी सहसा ऐसे ही भागने लगती थी। नहीं जानती अपनी उस अवस्था में भी मैं उस दिन कैसे तेजी से भाग पाई।

मैं घर पहुंची तो मेरे चिंतातुर पति हाथ में टार्च लिए मुझे

ढूंढ़ने ही निकल रहे थे।

"कहा रह गई थी तुम ? इतनी बार समझाया है इस कब्रिस्तान की पगडंडी से मत आया करो, फिर वहीं से आ रही हो। रात-भर अब डरती रहोगी।"

मैं प्राय. ही उस पगडडी मे आती थी और कभी-कभी रात को उन्ही कब्रों के सपने देख बुरी तरह चीख पडती थी। दिन में जिस कब्रिस्तान में बैठना मुझे अच्छा लगता था, रात को वही भयावह लगने लगता। १८५५ की उन कब्रो पर खुदे कई नाम मुझे कठस्थ हो गए थे। अधिकाश कब्रों पर संगमरमरी पत्थर की बनी फरिश्तों की खंडित मूर्तियों के साये मे मैंने न जाने कितनी कहानिया लिखी, किंतु उस दिन जिस अनूठे कथानक को मुट्ठी में बांध मैं उसी कब्रिस्तान की पगडंडी के आधार्य मे चटपट घर पहुंची, उसे क्या आज तक लिपिबद्ध कर पाई ? वह कथानक केवल मेरे और मेरे पति तक ही सीमित पुष्प-सा बिखरकर धरा मे मिल जाता। पर दो वर्ष पूर्व, लंदन के आबजर्वर मे मैं मृत्यु सूचनाएं पढ रही थी। पूरा अखबार चाटकर जब कुछ भी पढने को नही रह जाता था तो मैं इसी स्तम्भ की जुगाली करती थी। अनचीन्हे उन मृत्यु पथ के यायावरो के नाम, व्याधि, जन्म-मृत्यु के अन्तराल से उनकी वयस का शरसंधान मुझे बड़ा अच्छा लगता। कभी दुःख होता कि हाय, ऐसी अकाल मृत्यु हुई। कभी दीर्घ जीवन की अवधि देख आश्चर्य होता। साथ मे रहता उनकी संतान, पत्नी, जनक-जननी का नाम और कभी कोई सुन्दर-सी कविता। उसी मे वह नाम अचानक दिख गया था।

'मिस्टर प्रिय दामले,

मृत्यु, धैर्य से भोगी गई लंग कैंसर की दीर्घ व्याधि से—
जन्म : १७ नवम्बर, १६२१, मृत्यु : ५ अप्रैल, १६८३,

दयालु परम पिता की बांहों मे

दाई विल बी डन।

मारग्रेट दामले के परमप्रिय पति

टोनी और नेनी के स्नेहशील पिता

कृपया फ्यूनरल में पुष्प न लाएं, चैरिटी चेक इस पते पर भेजें..."

कैंसर सोसायटी का नाम-पता देकर, उस चर्च का भी पता, समय दिया गया था जहां सर्विस होगी। ट्यूब स्टेशन मेरे घर के पास ही था, चाहती तो बड़े आराम से जा सकती थी। न्यूकासल था ही कितनी दूर ! निश्चय ही वह प्रिया ही थी। उस जन्मतिथि को मैं कैसे भूल सकती थी, जिस तिथि को मैंने वर्षों तक उसे उपहार भेजे थे !

पर जाकर करती भी क्या—वहां पहुंचकर क्या मैं मारग्रेट दामले से कह पाती कि उसका परम प्रिय पति कभी किसी की उतनी ही प्राणप्रिया पत्नी थी ? क्या टोनी-नेली से कह पाती कि उसका स्नेही पिता किसी की उतनी ही स्नेहशीला जननी भी थी ?

विधाता ने उससे निकृष्ट कोटि का परिहास किया था, अब वह स्वयं वहीं जाकर उससे निबटेगी।

प्रिया ने क्या आज तक कभी किसी से हार मानी थी ?

मेरा भाई

बँगलूर तब आज का बँगलूर नहीं था। शहर के एक प्रमुख चौराहे से मुड़ती संकरी गली जिस नई बन रही बस्ती में पहुंचते ही विलीन हो जाती थी, उस बस्ती का तब नाम था 'शेषाद्रि पुरम्'। नाम आज भी वही है पर कलेवर बदल गया है। उस सड़क का नाम था थर्ड क्रास रोड। कुछ मकान बन रहे थे, कुछ बन चुके थे। आज की उस गृहसंकुल बस्ती में, अपने चालीस वर्ष पूर्व के उस मकान को ढूंढने के लिए मुझे घंटों भटकना पड़ा था।

निराश होकर लौट ही रही थी कि एक सुदर्शन नवनिर्मित देवालय की घंटाध्वनि सुन ठिठक गई। वर्षों की जंग लगी स्मृतियों की अर्गला सहसा स्वयं खुल गई। इसी मन्दिर की तो तब नींव पड़ी थी और मैंने ही उस देवभूमि में भजन गाया था। नींव डालने वाली थीं हमारी प्रतिवेशिनी गिरिजा बाई। तेजी से कदम रखती मैं मन्दिर के गर्भगृह में खड़ी हुई तो दीवार पर टंगे गिरिजा बाई के आदमकद तैलचित्र पर दृष्टि गई। रेशमी नीली साड़ी, चौड़ा सुनहला किनारा, कंठ में पड़ा मंगलसूत्र, बड़ी-सी कंकूजी बिंदी, नाक के दोनों ओर चमकती हीरे की लौंग और कानों में दगदगाते हीरे के कर्णफूल।

पूरा मन्दिर, अगरबत्ती की धूम्ररेखा से सुवासित था। सूर्यास्त हो चुका था। आरती के लिए घृत ज्योति बना रहे पुजारी की नंगी पीठ देख मुझे एक क्षण को लगा, गिरिजाबाई के पति रामस्वामी ही बैठे हैं। वे भी तो ऐसे ही नारायणस्वामी के भजन गाते घृत ज्योति बनाया करते थे और हमसे कहा करते थे, "देखो मां, इसे कहते हैं त्रिपुरी ज्योति, पहले तीनों ओर से बत्तियां बनाओ, फिर उन्हें एक कर दो।"

"सुनिए।" मैंने कहा। पुजारी चौंककर मुड़ा, मैंने देखा वह तो कोई बीस-बाईस वर्ष का तरुण पुजारी था।

उसने आश्चर्य से मुझे देखा।

"यहां कहीं गिरिजा बाई रहती थी। यह मन्दिर उन्हीं का बनवाया हुआ है ना?"

उसने सर हिलाकर कन्नड़ में कुछ कहा, मूर्ति के सम्मुख झुके एक भक्त ने, शायद हिंदी में पूछा गया मेरा प्रश्न और कन्नड में दिया गया उत्तर सुन लिया था।

"वह तो बहुत साल हुआ मर गया जी।" उसने कहा।

"उनके पति?"

"वह तो और भी पहले मर गया, आप क्या बहुत साल बाद बंगलूर आया क्या?"

"जी हां, चालीस साल बाद। गिरिजा बाई हमारी पड़ोसी थीं। सुब्बय्या को भी आप जानते होंगे, गिरिजा बाई का अनाथ भतीजा, जो उनके साथ रहता था, वह कहां है?"

"सुबय्या को पूछता क्या?" फिर वह व्यक्ति, पुजारी की ओर मुड़ रहस्यमय ढंग से कन्नड़ में कुछ कहने लगा।

"आप उसे नहीं जानते क्या?" मैंने कुछ अधैर्य से पूछा।

"अम्मा, बैंगलूर में सुबय्या को कौन नहीं जानता? कितना मर्डर, रेप, बैंक रौबरी किया उसने, कर्नाटक गवर्मेण्ट दस हजार

रुपया का इनाम बोला है उसको पकड़ने का।"

रेप, मर्डर और बैंक रौबरी! वह दुबली-पतली टांगों और स्याह चेहरे वाला रिकेटी छोकरा!

पर फिर मैं बिना कुछ पूछे चुपचाप बाहर निकल आई।

एक बार फिर मैंने उन साथ-साथ जुड़े चार मकानों को देखा। नया-नया पेंट, चमकती लाल छत, हरा पेंट किया जाफरीदार बारामदा और खिड़कियों के नये चमचमाते शीशे, जिन्हें हम प्रत्येक रविवार को अखबार की भीगी लुगदी रगड़-रगड़कर साफ करते थे, जिससे उनकी शुभ्र पारदर्शिता भेद गोल कमरे में धरा हमारा रोजवुड का नया-नया फर्नीचर, राह चलते राहगीरों को भी क्षण-भर ठिठकने को बाध्य कर दे! द्वार पर चढ़ी थी प्रिमरोज की बेल, जिसके नन्हे-नन्हे पीले गुलाबों की सुगंध संध्या होते ही अगरबत्ती की अवसन्न धूम्र-रेखा-सी पूरे परिवेश को सुवासित कर देती। वह बेल हमें सुब्य्या ने ही लाकर दी थी। कहता था, वह सर मिर्जा इस्माइल के माली से बड़ी चिरौरी कर हमारे लिए मांग लाया है। आज हमारे उसी मकान की खिड़कियों में बदसूरत टीन ठुके थे, प्रिमरोज की बेल न जाने किस अरण्य में विलीन हो गई थी, गेट टूटकर किसी बूढ़े के जर्जर दांत-सा नीचे लटक रहा था—काल की कुटिल गति क्या मनुष्य और वनस्पति, पेड़-पौधे, इमारत, झोंपड़ी किसी को नहीं छोड़ती?

इसी परिवेश में मेरे कैशोर्य की कितनी सुनहली स्मृतियां दबी पड़ी थीं। तब इस मन्दिर की मूर्तियां गिरिजा बाई के गृह में प्रतिष्ठित थीं। लाल मोजेइक फर्श, अगरबत्ती और बेले-मोगरे की खुशबू के बीच स्थापित वैंकटेश की दिव्य मूर्ति के सम्मुख तब भी अखंड घृत ज्योति जलती थी। स्वयं गिरिजा बाई का तेजोमय व्यक्तित्व भी उस पूजन गृह में मेल खाता था। गिरिजा

बाई और रामस्वामी नि:संतान थे। कुछ वर्ष पूर्व वे गांव से अपने दूर के किसी रिश्तेदार के अनाथ पुत्र को ले आए थे। गिरिजा बाई उसे ठूम-ठूमकर खिलाती रहतीं, फिर भी उसकी ठूंठ-सी देह पर रत्ती-भर मांस की परत भी नहीं चढी थी। उस-पर रंग था आबनूसी स्याह, अंधेरे में कोई देख ले तो 'भूत-भूत' कह चिल्ला पड़े। उसपर एक आंख भैंगी थी, कभी-कभी लगता, पुतली है ही नहीं। ललाट के बीचोंबीच आंख के आकार का बड़े-से घाव का निशान था।

"यही है मेरे शिव सुवय्या का तीसरा नेत्र।" गुस्सा आने पर गिरिजा बाई कहतीं, "इसी से तो अभागे की सब पढी-रटी विद्या बह जाती है, दिमाग मे कुछ टिकता नहीं।" सचमुच ही बेचारा लगातार तीन वर्षों से एक ही क्लास मे अटका पड़ा था।

"अरी तुम लोग अच्छे-अच्छे स्कूलों में पढ़ती हो।" गिरिजा बाई कहती, "छुट्टियों मे घर आती हो तो इसे भी पढा दिया करो, शायद तुम्हारी सोहबत ही इसे सुधार दे!" दूसरे ही दिन से सुवय्या सुबह होते-न-होते अपनी कापी-किताब ले, हमसे पढ़ने आ जाता। नंगे बदन, ऊंची बंधी धोती, ललाट पर भस्म का प्रगाढ़ प्रलेप, सतर बंधी शिखा और काले स्याह चेहरे पर विद्युत् वह्नि-सी चमकती सफेद दंत पंक्ति। मां कभी-कभी बौखला जाती, "सुबह-ही-सुबह इस कलूटे कनुवे का मुंह देख लिया है, न जाने दिन कैसा बीतेगा।"

"वह काना नहीं है, भैंगा है मां।" मैं अपने शिष्य का पक्ष लेती।

मुझे उसपर बेहद तरस आता था। अनाथ लड़का, बुआ के यहां आश्रित नौकर की-सी ही जिंदगी तो जी रहा था।

"अरे सुवय्या, पानी भरा? कमरा झाड़ा? पूजा के बर्तन

साफ किए ? चल जल्दी काफी बना ला।" असंख्य आवेशों की गोली दागती बुआ जब काफी पीकर शांत होतीं, तो वह हमसे पढ़ने भाग आता।

मेरे दोनों भाई उसे छेड़ते रहते, "क्यों रे भड़भूजे, तुझे तो पसीना भी काला आता होगा, क्यों ?"

"अरे भुतनी के, कल से बनियान पहनकर आना, तेरी नंगी काली पीठ आखों में चुभती है।"

वह बेचारा हिंदी समझता ही कहां था, पर फिर धीरे-धीरे वह हिंदी भी सीख गया। जितने दिन हम गर्मी की छुट्टियों में घर रहते, वह दिन-रात हमारे यहां ही पड़ा रहता।

"क्यों रे सुवय्या, तुझे हमारे यहा इतना अच्छा क्यों लगता है रे ?" एक दिन मैंने पूछ दिया।

"बताऊं ?" उसने अपनी बड़ी-बड़ी डरी-सहमी आखें उठाकर, लजाकर सहसा झुका ली।

"बता ना।" मेरी बड़ी बहन ने कहा।

"आप लोग सब इतना सफेद हैं ना, इसी से।" बेचारा, अपने काले रंग के लिए वह विधाता को कभी क्षमा नहीं कर पाया। शायद वही कुंठा उसे एक दिन विधाता की सृष्टि का संहार करने को उकसा गई।

रक्षाबंधन के दिन वह स्वयं ही एक सजीली राखी लेकर उपस्थित हो जाता।

"हमको आप राखी बांधेगा ना, इसी से हम लाया।"

"तू क्यों लाया, भाई थोड़े ही ना राखी लाता है, बहन उसे बांधती है, फिर पहाड़ में यानी हमारे देश में राखी दामाद और भानजे को बांधी जाती है। हमारे यहां भाई-बहन का त्यौहार है भाई दूज, उस दिन आना, हम तुझे पूड़ी-पकवान खिलाकर तिलक करेंगे और तू हमें रुपया देगा।"

"ऐसा क्या !" उसका मुंह लटक गया।

"अच्छा चल, मैं तुझे राखी बांध दूंगी। पर अगली बार तू राखी मत लाना, भाई थोड़े ही ना राखी लाता है, बहन उसे बांधती है।" मैंने उसे तिलक लगाकर राखी बांधी और मुंह मे लड्डू भर दिया।

"आज से तू हमारा भाई बन गया सुबय्या।"

"भाई ?" उसकी आंखो में उल्लास की सहस्र किरणें फूट उठी।

"हां भाई।"

"सच ?"

"सच।"

और फिर तीन वर्षों तक मेरा वह भाई, मेरे सगे भाइयों से भी पहले, भाई दूज के पकवान खाने पहुंच जाता। रक्षाबंधन के दिन भी वह स्वयं राखी लेकर आ जाता।

सुबह अखबार लेने, हममे से कोई भी द्वार खोलता तो देखता, नगे बदन, ललाट पर भस्म पोते, मेरा राखीबन्द भाई, देहरी पर स्वामिभक्त श्वान-सा बैठा है।

"अरी जा, तेरा कलूटा कनुआ आ गया है तुझसे राखी बंधवाने। जब भी सुबह-सुबह इसकी मनहूस सूरत देखी है, कुछ-न-कुछ बुरी खबर जरूर सुनने को मिली है।" मां भुनभुनाती।

"छि:, मां। कनुआ क्यों कहती हो उसे ! वह काना नहीं, भेंगा है।" मैं कहती।

"जो भी है, है तो मनहूस। जा बांध राखी और दफा कर।"

मेरी मां को उसका आना फूटी आखों नही भाता था।

देखती नहीं, कैसे टगर-टगर चोरों की तरह ताकता है।

आए दिन बेचारी गिरिजा बाई चिल्लाती रहती है, पूजा का चढ़ावा गायब हो गया। रामस्वामी की जेब से पैसा चला गया। आखिर इसके सिवा यहां है ही कौन जो लेगा। देख, इसे बहुत मुंह मत लगा, मुझे इसकी कौए की-सी टेढ़ी नजर अच्छी नहीं लगती।"

मेरे हॉस्टल जाने के दिन आते तो वह उदास हो जाता, मुंह से कुछ नहीं कहता, पर जाने के दिन एक मोंगरे का गजरा लेकर स्टेशन पर अवश्य उपस्थित रहता।

"ले आ गया तेरा भाई।" मेरी बहन कहती।

"पिछली बार स्टेशन आया तो ट्रेन सात घटे लेट पहुंची थी।"

मैं ट्रेन से गर्दन निकाल, उसके दुबले काले हाथ में हिलते पांडुवर्णी जीर्ण रूमाल को तब तक देखती रहती, जब तक वह आंखों से ओझल नहीं हो जाता। शायद तीन वर्षों तक वह निरन्तर मुझसे राखी बंधवाने आता रहा, फिर उसी वर्ष मेरे पिता का देहांत हुआ और दक्षिण हमसे छूट गया। हम जब बैंगलूर से पहाड़ लौटे तो वह अपनी बुआ के साथ श्रीरंगपट्टनम् की यात्रा पर गया था, और फिर वह सहसा जैसे किसी शून्य अन्तरिक्ष से सहसा धूमकेतु-सा प्रकट हो गया, वह भी ठीक रक्षा-बंधन के दिन।

इटारसी से कुछ आगे बढ़ते ही ट्रेन ने गति द्विगुणित कर दी थी, अंधकार गहन हो चला था, भोपाल पहुचते-पहुंचते दस बज जाएगा, सोच मैंने लपककर बत्ती बुझा दी। पढ़ते-पढ़ते ऊब

गई थी, कूपे में और कोई नहीं था, एक धूमिल नीली बत्ती जल रही थी। सहसा खटाक से द्वार खुल गया। मैं हड़बड़ाकर उठ बैठी। मैंने तो चिटकनी चढ़ाई थी, यह कैसे खुल गया। मैं बत्ती जलाती, इससे पूर्व ही मैंने देखा, एक मुड़े तार को भीतर डाल, सधे कौशल से चिटखनी खोलने वाला एक दीर्घदेही व्यक्ति मेरे सिरहाने खड़ा है। खाकी वर्दी, सर पर धरी तिरछी बेरा कैप, जिसने यवनिका की भांति उसका पूरा चेहरा ढांप लिया था।

"खबरदार जो चिल्लाई, यहीं खतम कर दूंगा, लाओ बटुआ, घड़ी, चेन, कंगन, कान के टाप्स भी खोलकर दे दो, नहीं तो मुझे खींचने पड़ेंगे। बेकार में खून बहाना मुझे अच्छा नहीं लगता।"

मैंने एक-एक कर सब चीजें उसे थमा दी। ऐसी परिस्थिति में, व्यर्थ का दुःसाहस प्रदर्शन मुझे महंगा बैठेगा, यह मैं समझ गई, क्योंकि उसके हाथ में एक लम्बा लपलपाता छुरा था। मेरी ओर बिना पीठ किए ही फिर उसने ऊपर के बर्थ पर धरा मेरा सूटकेस इस सहज भंगिमा से उठा लिया, जैसे उसी का हो और गंतव्य स्टेशन आने पर वह अपना ही सामान लिए उतर रहा हो।

'सुनो।" मैंने न जाने कैसे साहस जुटाकर कहा।

"तुम सब ले जा सकते हो, पर सूटकेस में मेरा पासपोर्ट है, मुझे परसों रात की फ्लाइट से सांघातिक रूप से बीमार किसी को देखने लंदन जाना है, तुम यह ले जाओगे तो मैं इतनी जल्दी दूसरा पासपोर्ट नहीं बना पाऊंगी।" मैं सहसा अपनी रुलाई नहीं रोक पाई।

"बस-बस, रोना नहीं, मुझे औरतों की रुलाई से बड़ी घबड़ाहट होती है। लाओ चाबी—पासपोर्ट निकाल दूं।"

सूटकेस खोल, उसने ऊपर ही धरा पासपोर्ट निकाला,

बिना खोले ही थमा जाता तो अच्छा था, पर न जाने क्या सोच उसने पासपोर्ट खोला, बड़ी देर तक देखता रहा, फिर सूटकेस खुला ही छोड़ उसने बत्ती जला दी।

मैंने अब तक उसका चेहरा देखा भी नहीं था। बत्ती जली तो मैंने अचकचाकर उसे देखा और उसने मुझे। हम दोनों कितने ही बदल गए हों, राखी के क्षीण सूत्र ने ही शायद एक साथ हम दोनों को किसी फिल्मी फ्लैश बैक की तत्परता से एक बार फिर शेषाद्रिपुरम् की उस नयी बस्ती में खड़ा कर दिया।

"सुबय्या, तुम सुबय्या हो ना?"

उसने टोपी उतारकर बर्थ पर शायद इसी लिए पटकी कि मैं उसका चेहरा ठीक से देख, उसे पहचान लूं। ललाट के बीचों-बीच, उसका तीसरा नेत्र, उसकी दुष्कीर्ति की भांति जैसे और फैल गया था।

'यही तो है मेरे शिव सुबय्या का तीसरा नेत्र, इसी से तो अभागे की सारी पढ़ी-पढ़ाई विद्या बहकर निकल जाती है, दिमाग में कुछ टिकता नहीं।' जैसे गिरिजा बाई, कमर पर हाथ धरे उसे कोस रही थी।

"आज इतने बरस में तुमसे मिला, वह भी ठीक रक्षाबंधन के दिन। तुम पासपोर्ट नहीं मांगता तो हमसे आज कितना बड़ा पाप हो जाता।"

"इससे भी बड़े पाप नहीं कर चुके क्या? सुना है, बहुत नाम कमा चुके हो। दस हजार का इनाम है तुम्हारे सर का।" मेरा स्वर शायद कुछ अधिक ही तीखा हो गया था।

वह खिसिया गया, मां कहां है? बड़े भाई कहां हैं? तुम्हारा हजबैंड किधर है? जिन सबकी कुशल वह पूछ रहा था, वे सब एक-एक कर सांसारिक कुशल-क्षेम की परिधि से

बहुत दूर जा चुके थे। फिर सकपकाकर उसने पूछा, "तुम शादी तो बनाया ना?" मैं चुप रही।

सहसा वह चौकन्ना होकर सतर हो गया। गाड़ी की गति कुछ धीमी हो रही थी। किसी आसन्नप्राय स्टेशन की बत्तियां, सुदूर अरण्य में जुगनू-सी चमकने लगी थीं।

"मैं चलूं, राखी नहीं बांधेगा?" सहसा उसका स्वर कोमल धैवत पर उतर आया।

"नहीं।"

"कोई बात नहीं, मैं तुमको हमेशा रक्षाबंधन पर एक रुपया देता था, याद है ना?"

"उसे भी शायद बुआ के मन्दिर से चुराकर लाते होगे।" मैंने तीखे स्वर में कहा।

"ठीक पकड़ा तुम।" उसने बेहयाई से हंसकर बटुआ खोला, "लो," न जाने कितने नोट निकाल उसने मेरी ओर बढ़ा दिए।

"मैं तुम्हारा रुपया अब लेना तो दूर, छूना भी नहीं चाहती।"

"ओह, हम समझ गया। कोई बात नहीं, तुम राखी नहीं बांधा, पर हमको लगता तुम राखी बांध दिया।" और वह टोपी पहन तीर-सा निकल गया।

मैं कुछ देर तक उठ ही नहीं पाई, जब बड़ी चेष्टा से खुला सूटकेस बन्द करने उठी तो मेरे दोनों पैर कांप रहे थे। वह लेकर चला जाता तो? मूर्ख की भांति पूरे पांच हजार कैश लेकर जा रही थी, ट्रेवलर्स चेक बनाने का समय ही कहां मिला था? उसपर पासपोर्ट, कुल देवताओं की पोटली, चार तोले के कंगन, घड़ी, हीरे की अंगूठी! कैसा बचाया वर्षों पूर्व बांधी गई राखी की डोर ने! पर तब ही देखा, चलते-चलते मेरा वह हतभागा

भाई, मुझे मात दे ही गया था। अपना वालेट, यह मेरे सूटकेस में वैसे ही धर गया था। सौ-सौ पाउंडों की मोटी गड्डी, डालर, दीनार और फ्रैंक से भरा बटुआ, बकरा खाए अजदहे के पेट-सा फूला था। न जाने किस विदेशी यात्री की जेब कतर वह उसे तिड़ी कर लाया था। निखालिस इंगलिश लेदर के बटुए पर लिखा था 'मेड इन ग्रेट ब्रिटेन' किंतु उसमें न नाम-धाम है, न अता-पता! अब कहां ढूंढूं इसके स्वामी को और किसे लौटाऊं?

सोचती हूं, कभी फिर तिरुपति गई तो वहां के दानपात्र में ही इसे डाल आऊंगी।

सुना है, वहां संसार-भर के महापातकी, अपनी पाप की कमाई उड़ेल जाते हैं और उनका समस्त कलुष धुल जाता है।

राखी तो उसे नहीं बांध पाई पर इतना तो कर ही सकती हूं। जिसे अब मैं नहीं ढूंढ पाऊंगी, मेरे उस राखीबंद भाई को शायद दयालु वेंकटेश्वर स्वयं एक दिन मुश्कें बांध अपने दरबार में बुला भेजें और वह अभागा उनके चरणों में गिरकर कह सके :

"पापोहं पाप कर्मोहं
पापात्मा पाप संभवम्
त्राहि मां पुण्डरीकाक्षं सर्वपापहरो हरिः।"

शिवानी

● सन् १९२३ में राजकोट में जन्मी शिवानी का मूल नाम गौरा पन्त है तथा वह मूलतः कुमाऊंनी हैं।

● साहित्य सेवाओं के लिए शिवानी को भारत सरकार ने पद्मश्री की उपाधि से अलंकृत किया।

● गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सान्निध्य में नौ वर्ष तक शांतिनिकेतन में शिक्षा पाई। इसी कारण शिवानी की रचनाओं में गुरुदेव का प्रभाव परिलक्षित होता है। दार्शनिकता और सांस्कृतिक दृष्टिकोण रचनाधर्मिता के अन्तर्गत गुरुदेव की ही देन है।

● शिवानी की भाषा संस्कृतनिष्ठ होते हुए भी सहज और प्रवाहमय होती है। निश्चय ही यह कहा जा सकता है कि शिवानी की सभी रचनाएं उनकी अलग पहचान बनाती है।

● कहानी, उपन्यास, संस्मरण, रेखा-चित्र, यात्रा वृतांत से सम्बंधित अनेक पुस्तकों की लेखिका शिवानी इधर समकालीन समाज और राजनीति पर सशक्त ढंग से लिख रही हैं